* ॐ श्रीपरमात्मने नमः *

कल्याण



वर्ष ५८
संख्या ६

'तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि ।'

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६५,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, जून १९८४

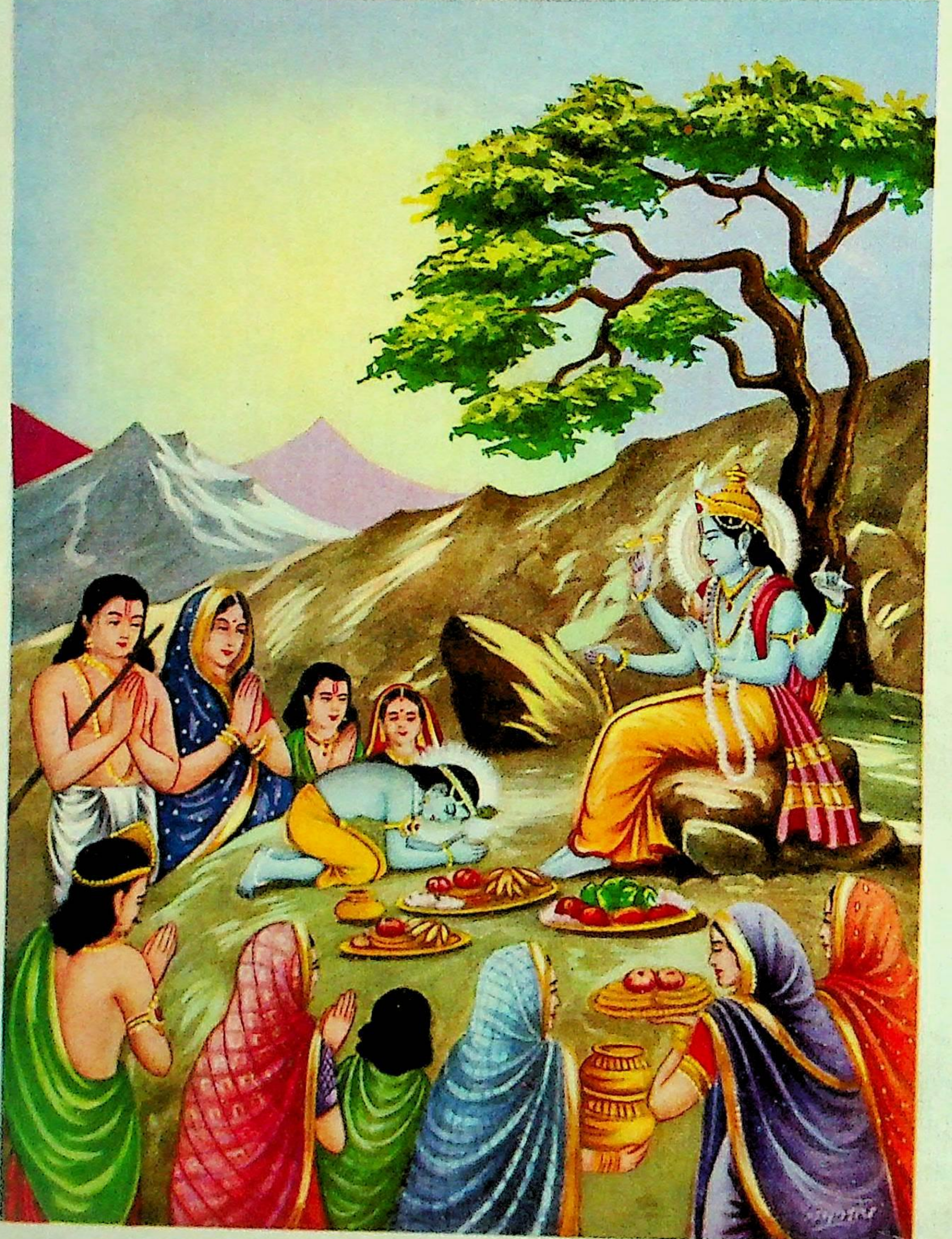
चित्र-सूची

प्रत्येक साधारण अङ्कका मूल्य
भारतमें १.०० रु०
विदेशमें—१० पेंस

जय विराट् जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

कल्याणका वार्षिक मूल्य
भारतमें २४.०० रु०
विदेशमें ५२.०० रु०
(३ पौण्ड ५० पेंस

संस्थापक—ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका
आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार
सम्पादक—राधेश्याम खेमका
गोबिन्दभवन-कार्यालयके लिये जगदीशप्रसाद जालानद्वारा गीताप्रेस, गोरखपुरसे मुद्रित तथा प्रकाशित



श्रींगोवर्धन - पूजा

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



कल्याण

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

वर्ष ५८ } गोरखपुर, सौर आषाढ़, श्रीकृष्ण-संवत् ५२१०, जून १९८४ ई० { संख्या ६ पूर्ण संख्या ६९१

गोवर्धन-प्रार्थना

बिनती करत नंद कर जोरैं, पूजा कह हम जानै नाथ ।
हम हैं जीव सदा माया-बस, दरस दियौ मोहिं, कियौ सनाथ ॥
महा पतित मैं, तुम पावन प्रभु, सरन तुम्हारी आयौ तात ।
तुमतें देव और नहिं दूजौ, कोटि ब्रह्मंड रोम प्रति गात ॥
तुम दाता, अरु तुमहिं भोगता, हरता-करता तुमहीं सार ।
'सूर' कहा हम भोग लगायौ, तुमहीं भुलै दियौ संसार ॥

कल्याण

प्रेम सारी दैवी सम्पत्तियोंका मूल स्रोत है। जहाँ प्रेम है, वहाँ त्याग, सद्भावना, सहिष्णुता, क्षमा, उदारता, वदान्यता, मैत्री, अहिंसा, सेवा, सरलता, उन्मुक्तहृदयता, निष्कामता, प्रसन्नता, सत्य, विश्वास, साहस और सौजन्य आदि सद्गुण अपने-आप आ जाते हैं। इसके विपरीत जहाँ स्वार्थ है, वहीं भय है और जहाँ भय है, वहाँ परिग्रह, दुर्भाव, असहिष्णुता, कामना, क्रोध, कृपणता, अनुदारता, द्वेष, वैर, कपट, दम्भ, विषाद, अविश्वास, घृणा, लोभ, प्रतारणा, कायरता और कुटिलता आदि नीच वृत्तियाँ अपने-आप उत्पन्न हो जाती हैं।

जहाँ दैवी सम्पत्ति है, वहाँ सहज सुख, उल्लास, आनन्द, आत्मीयता रहते हैं, और जहाँ आसुरी सम्पत्ति है, वहाँ शोक, विषाद, दुःख, परायापन रहते हैं।

प्रेम जितना शुद्ध होगा, उतना ही भगवदभिमुखी होगा और जहाँ भगवत्प्रेम होगा, वहाँ मनुष्यमें निर्भयता और निश्चिन्तता इतनी अधिक बढ़ जायगी कि वह कर्तव्यपालनमें, सत्यभाषणमें, दूसरोंका उपकार करनेमें, अपना सर्वस्व देकर भी सेवा करनेमें और जीवनकी महान् कठिनाइयोंमें जरा भी नहीं डरेगा। वह दृढप्रतिज्ञ, मनस्वी, तेजस्वी, साहसी और वीर होनेके साथ ही अत्यन्त विनम्र आदर्श, विनयी, मधुरभाषी, समझकर करनेवाला और शान्तिप्रिय होगा। उससे किसीका अपकार तो होगा ही नहीं। वह सर्वथा निःस्वार्थ, भगवद्विश्वासी, भगवत्कृपापर निर्भर करनेवाला और सदा आनन्दमें निमग्न रहनेवाला होगा।

भगवत्प्रेमी या तो सारे संसारमें भगवान्‌को देखता है या सारे संसारको भगवान्‌में देखता है। इसलिये वह स्वाभाविक ही निर्भय, नमनशील, विश्वप्रेमी, विश्वसेवक और विशालहृदय होगा। उसका न तो कोई वैरी रहेगा और न उसकी किसी वस्तुविशेषमें आसक्ति ही होगी। वह नित्य भगवत्-कर्म-रत, भक्तिरसाप्लुतहृदय और भगवत्परायण होगा।

× × × ×

किसी भी भयमें इतनी शक्ति नहीं है जो भगवत्कृपाकी अपार शक्तिके सामने ठहर सके।

किसी भी पापमें इतनी शक्ति नहीं है जो भगवद्भक्तिके सामने टिक सके।

किसी भी तापमें इतनी शक्ति नहीं है जो भगवत्प्रेमकी शीतलताके सामने रह सके।

तुमपर भगवान्‌की अनन्त कृपा है, इसलिये भगवान्‌की भक्ति तुम्हारे हृदयमें लहरा रही है और भगवत्प्रेममें तुम डूबना ही चाहते हो। फिर भय, पाप, ताप कहाँ रहेंगे? उनको तो नष्ट हुए ही समझो। जबतक तुम्हें पाप-ताप तथा भय सताते हैं, तबतक तुमने सचमुच भगवत्कृपापर विश्वास ही नहीं किया। भगवान्‌ने स्वयं घोषणा की है—जो मुझमें विश्वास करता है, वह मेरी कृपासे सारी कठिनाइयोंसे तर जाता है।

तुम भगवान्‌के हो, भगवान् तुम्हारे हैं। उनसे अधिक निकटस्थ आत्मीय तुम्हारा और कोई नहीं है। वे तुम्हारी जितनी और जहाँतक सँभाल करते हैं, उतनी और वहाँतककी तुम कल्पना भी नहीं कर सकते।

भगवान् तुम्हारे दोषोंको तुरंत क्षमा कर देंगे और तुम्हें सदाके लिये अपना लेंगे। तुम एक बार उनकी सुहृदयता और आत्मीयतापर पूर्ण विश्वास करके उन्हें मुक्तहृदयसे पुकार तो लो!

—'शिव'

अभय-वाणी

(महात्मा श्रीसीतारामदास ओङ्कारनाथजी महाराज)

[प्रसिद्ध संत श्रीसीतारामदास ओङ्कारनाथजीको नीलाचलमें साधनाके समय श्रीभगवान्से यह प्रेरणा प्राप्त हुई थी कि वे लोक-कल्याणके लिये नाम-माहात्म्यका प्रचार करें। तबसे श्रीठाकुर जनगणके हितार्थ 'अभय-वाणी'का प्रचार करते रहे। यहाँ कल्याण-पाठकोंके लाभार्थ उसका कुछ अंश प्रकाशित किया जा रहा है।—सं०]

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥

मा भैः—

प्यारे! मुझमें सम्भव-असम्भवकी कुछ भी कल्पना न कर। मैं कमल-नालसे हाथी बाँध सकता हूँ, गोष्पदमें पर्वत डुबा सकता हूँ। मेरी गतिका निर्णय कर सके, ऐसी शक्ति किसीमें भी नहीं है। तू देह-चिन्ता, अर्थचिन्ता—सबका त्याग कर। मैंने सबकी व्यवस्था कर दी है। पुकार, मुझे पुकार, तेरी सब ज्वालाएँ दूर होंगी। मा भैः, मा भैः, मा भैः!

तू नाम ले—जबतक स्थिर नहीं हो पाता, तबतक नाम ले। तेरे पैरोंके नीचेसे पृथ्वी खिसक जाय, सिर-पर आकाश टूट पड़े अथवा तेरा सर्वनाश ही क्यों न हो जाय, तू किसी ओर न देखकर दिन-रात नाम ले। तू यह निश्चित जान—तू मेरी गोदमें है, मैं तुझे छातीसे लगाकर तेरी रक्षा कर रहा हूँ। नाम ले—नाम ले।

सर्वे नश्यन्ति ब्रह्माण्डे प्रभवन्ति पुनः पुनः।
न मे भक्ताः प्रणश्यन्ति निःशङ्काश्च निरापदः॥

डर किस बातका! मेरा भक्त कभी भी नष्ट नहीं होता। सब कुछ चला जायगा, पर मेरा भक्त निःशङ्क एवं निरापद बना रहेगा। मा भैः! मा भैः! मा भैः!

मैं सत्य कह रहा हूँ—जो मेरा नाम लेते हैं, पाषाण-काष्ठसदृश होनेपर भी मैं उन्हें मृत्युकालमें अभीष्ट प्रदान करता हूँ। नाम ले, अविराम नाम ले—मैं सब भार ग्रहण करूँगा। तू एकदम निश्चिन्त हो जायगा। आ संसार-पीड़ित, साधन-भजनहीन! आ संतप्त, तृषित, भोगलुब्ध! दौड़ आ, आ रोग-शोक-यन्त्रणासे व्याकुल! आ बालक, वृद्ध, युवक, युवती! आओ, आओ; पापी-पुण्यवान्, ब्राह्मण-चाण्डाल! आओ; आओ रे मूर्ख-ज्ञानी, धनवान्-निर्धन!—सब मेरा नाम लो, नाम लो, नाम लो। तुम्हारे सब दुःख दूर होंगे। तुम सब आनन्द-सागरमें डूब जाओगे।

नस-नस रक्त-प्रवाहमें होय नाम-धुनि नित्य।
राम-नाम अङ्कित रहें अस्थि-अस्थिमें सत्य॥

नस-नसमें रक्तप्रवाहके साथ नाम-ध्वनि संचार करे। हड्डी-हड्डीमें राम-नाम-महावाणी अङ्कित हो जाय।

जितना ले सकते हो, नाम लो, जितना सुन सकते हो, नाम सुनो; मेरा चैतन्यमय नाम सुनना, लेना व्यर्थ नहीं जाता; जितना नाम उतना ही आनन्द!

श्रद्धया हेलया नाम रटन्ति मम जन्तवः।
तेषां नाम सदा पार्थ वर्तते हृदये मम॥

हे पार्थ! श्रद्धा या अवहेलनासे भी जो मेरा नाम रटते हैं, उन मनुष्योंके नाम मेरे हृदयमें सदा वर्तमान रहते हैं।

येन केन प्रकारेण नाममात्रस्य जल्पकाः।
श्रमं विनैव गच्छन्ति परे धाम्नि समादरात्॥

जिस-किसी भी तरह केवल नाममात्रका जप करनेवाले बिना ही श्रमके बड़े आदरके साथ परमधामको चले जाते हैं।

अरे प्रियतम! मेरा नाम ले, निर्भय हो जायगा।

मा भैः! मा भैः! मा भैः!

माननेमात्रसे भगवत्प्राप्ति

(ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके पुराने प्रवचनसे)

आपलोगोंको ऐसी दामी (मूल्यवान्) बातें बतलाते हैं, जिनमें आप लोगोंका न तो एक पैसा खर्च होगा, न समय अधिक लगेगा, न विशेष परिश्रमकी ही आवश्यकता पड़ेगी। हाँ, इन्हें प्रयोगमें लानेसे बहुत ज्यादा लाभ होकर निश्चय ही कल्याण हो सकता है। इनको कोई भी कर सकता है—गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी या संन्यासी; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र चारों ही आश्रम एवं वर्णवाले उनको कर सकते हैं और चारोंका ही उनसे कल्याण हो सकता है। अपने कल्याणमें, मुक्तिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है। जो लोग इस प्रकार कहते हैं कि मुक्ति किसी वर्ण-विशेष या आश्रम-विशेष अथवा देश-काल-विशेषमें ही होती है, उनकी बातें कभी सुननी-माननी नहीं चाहिये; वे अपना सिद्धान्त अपने पास ही रक्खें। ऐसे झूठे बन्धनोंमें जकड़कर एवं सिद्धान्तोंको बनाकर वे अपना और मुक्तिका भी पतन कर देते हैं। इसलिये उन लोगोंके बन्धनमें नहीं आकर खुला होकर विचरना चाहिये। वे सब झूठे बन्धन हैं और भगवान्‌के बनाये हुए नहीं हैं। कुछ भी हो, मुक्तिके लिये सभीका दायरा खुला एवं विस्तृत है, फिर इस कलिकालमें तो भगवान्‌की उदारताकी सीमा ही नहीं है। इस प्रकारका मौका पाकर भी अगर हमलोग मुक्तिसे वञ्चित रह जाते हैं तो समझना चाहिये कि हमारा बड़ा भारी दुर्भाग्य है। किसी भी मनुष्यका कल्याण होना वस्तुतः बहुत कठिन बात नहीं है, बल्कि बहुत ही साधारण-सी बात है। आपलोगोंने जो अपनी आत्माके कल्याणको बहुत ही कठिन एवं असम्भव तथा जो इतना अधिक जटिल मान रक्खा है, वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। यह तो केवल मात्र आपलोगोंके हृदयकी कमजोरी है कि जो मुक्तिका होना इतना कठिन मान लिया है। यही सबसे हानि करने-वाली बात है। इसलिये यह सिद्धान्त रखना चाहिये कि परमात्माकी प्राप्ति करना मनुष्यके लिये कोई कठिन काम और चीज नहीं है। मनुष्य चाहे जैसा भी पापी-से-पापी एवं मूर्ख-से-मूर्ख क्यों न हो, उसका बहुत ही शीघ्र-से-शीघ्र उद्धार हो सकता है। आपलोगोंको रुपया कमानेमें जितना परिश्रम करना पड़ता है, भगवान्‌की प्राप्ति करनेमें उस प्रकार उतना परिश्रम नहीं करना पड़ता। भगवान्‌की प्राप्ति न होनेपर आपलोग जो अज्ञानवश ऐसा मान बैठते हैं कि हमलोगोंपर भगवान्‌की दया नहीं है, भगवान्‌का हमपर कोप है, तो यह भगवान्‌पर कलंकका आरोप करना है। भगवान्‌की दयाकी तो कोई सीमा ही नहीं है, उनकी आपलोगोंपर बड़ी भारी दया है। यह भगवान्‌की बड़ी भारी दयाका ही परिणाम है कि जिससे आपलोगोंके लिये इस प्रकारके देश, काल, स्थान एवं बुद्धिकी व्यवस्था हुई है। फिर भी अगर आप भगवान्‌को गाली निकालते हैं, उनको कोसते हैं तो आपकी मरजी है, लेकिन फिर भी भगवान् उन बातोंपर ध्यान नहीं देते; क्योंकि वे समझते हैं कि आपलोग पापी हैं—इस प्रकारसे जिस प्रकार आपलोग भगवान्‌पर कलंक और लाञ्छन लगाते हैं। माता-पितापर कलंक और लाञ्छन या उनका अन्य कोई अपराध करनेपर माता-पिता तो अपने पुत्रको घरसे निकाल भी सकते हैं या उसका त्याग कर सकते हैं, लेकिन भगवान् तो आपलोगोंको न तो घरसे ही निकालेंगे और न आपलोगोंपर कृपाका त्याग ही करेंगे।

महात्मा, धर्म और भगवान्—इन सबका यही नियम है कि ये लोगोंसे, पापियोंसे भी सबसे सम्बन्ध जोड़ना जानते हैं, तोड़ना नहीं। लेकिन अगर

कोई स्वयं उनसे सम्बन्ध तोड़ना चाहे तो उसका ये क्या उपाय करें और क्या कर सकते हैं। महात्मा, धर्मराज और ईश्वर—ये तीनों ही महापुरुष हैं। इसलिये जो उच्चकोटिके पुरुष होते हैं, वे कभी भी किसीका अनिष्ट नहीं चाहते, सबका वे हर प्रकारसे हित ही चाहते हैं। बालक चाहे जितना भी कुपात्र क्यों न हो, लेकिन माँ-बाप कभी कुपात्र नहीं होते। फिर भी माँ-बापमें तो कभी-कभी स्वार्थ-बुद्धि हो जानेके कारणसे दोष पाया भी जा सकता है, लेकिन ईश्वर, धर्म और महापुरुषोंमें ये बातें नहीं पायी जा सकतीं।

सबसे बढ़कर दामी बात यह है कि हर समय जो भी चीज आपकी दृष्टिके सम्मुख पड़े, उसको परमात्मा ही समझना चाहिये, जो भी कुछ वस्तु है सब परमात्माका ही स्वरूप है। ऐसा समझकर खूब आनन्दमें मुग्ध होना चाहिये। जो भी कुछ है वह सब भगवान्‌का ही स्वरूप है, इस बातको भगवान्‌ने गीताके जिस श्लोकमें बतलाया है उसको कण्ठस्थ कर लेना चाहिये। यह बात भगवान्‌ने गीता अध्याय ७ श्लोक १९ में बतलायी है—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥

और जो बहुत जन्मोंके अन्तके जन्ममें तत्त्वज्ञानको प्राप्त हुआ ज्ञानी सब कुछ वासुदेव ही है, अर्थात् वासुदेवके सिवाय अन्य कुछ है ही नहीं, इस प्रकार मुझको भजता है, वह महात्मा अति दुर्लभ है।

सबको वासुदेव भगवान्‌का स्वरूप समझना यह खास बात है; महापुरुषोंमें तो स्वभावसिद्ध है। इसका हमलोगोंको साधन बना लेना चाहिये। इस श्लोकका अर्थ क्या है? बहुत-से जन्मोंके अन्तके जन्ममें जो भी कुछ है वह वासुदेवका स्वरूप है—इस प्रकारसे मुझको ज्ञानवान् भजता है। इस प्रकारसे समझनेवाला महात्मा बहुत ही दुर्लभ है। इस प्रकारकी महिमा सबमें भगवान्‌को देखनेवाले महापुरुषकी बतलायी गयी है। आपलोगोंको इस जन्मको तो बहुत-से जन्मोंका अन्तिम जन्म मान लेना चाहिये; समझ लेना चाहिये कि यही हमारा अन्तिम जन्म है। इसके बाद और जन्म हमलोगोंको नहीं लेना पड़ेगा, इस प्रकारका विश्वास कर लेना चाहिये; क्योंकि विश्वास ही फलदायक होता है। इस प्रकारका विश्वास करनेमें आपलोगोंको लगता ही क्या है? ऐसा माननेमें आपलोगोंकी कोई हानि तो है ही नहीं। एक पुरानी बात याद आ गयी जो कि आपलोगोंको बतलायी जाती है। एक जातिका परिवर्तन हो गया—यह इस बातसे स्पष्ट हो जाता है।

हमलोगोंके देश मारवाड़में राजपूत लोग थे। उन लोगोंको फतेहपुरके नवाबने अपने पास बुलाया और कहा—'तुम सब लोग मुसलमान बन जाओ।' उन लोगोंने मुसलमान बननेसे इनकार कर दिया। तब नवाबने राजपूतोंसे कहा—'यदि तुम लोग मुसलमान होना नहीं चाहते हो तो मत बनो, लेकिन मर्दुमशुमारी यानी मनुष्य-गणनामें तुम मुसलमानोंके साथ अपना नाम लिखवा दो, इतनी बात तुम हमारी मान लो। तुम लोगोंका जो धर्म है, उसका तुम लोग उसी प्रकारसे पालन कर सकोगे। उसमें किसी प्रकारकी रोक-टोक नहीं होगी।' वे बीकानेर एवं जोधपुरके राजपूत थे। समझे कि मुसलमानोंकी लिस्टमें नाम लिखवा देनेमें हमलोगोंको आपत्ति ही क्या है? हमलोग अपना हिन्दू राजपूत-धर्मका पालन करेंगे। उन लोगोंने नवाबकी बात मान ली और अपना नाम मुसलमानोंकी लिस्टमें लिखवा दिया और वे अपने धर्मका पालन भी करते रहे। वह जाति अब हमारे देशमें क्यामखानी नामसे प्रसिद्ध हो गयी और अब वे ही कट्टर मुसलमान बन गये हैं। थोड़े दिनोंके पहिलेतक तो उन लोगोंके विवाह-शादी आदि शुभ कार्योंमें ब्राह्मणोंका उनके घर आना-जाना होता

था। अब यह भी धीरे-धीरे बन्द होकर सब काम चौपट हो गया। वे लोग अपनेको केवल मुसलमान कहने लगे। यद्यपि उन्होंने मुसलमानी धर्म स्वीकार नहीं किया था, किंतु धीरे-धीरे मुसलमानोंके सब मजहबी मामलोंको स्वीकार करके वे कट्टर मुसलमान हो गये। केवल मान लेनेका ऐसा परिणाम हुआ। ऐसी ही बात गङ्गाजीके सम्बन्धमें भी समझनी चाहिये। गङ्गाजीकी शरणमें जानेपर बहुत शीघ्र उद्धार हो सकता है। गङ्गाजी भगवान्‌के चरणोंका जल हैं। गङ्गाजीमें स्नान करनेसे पापोंका नाश होकर मनुष्योंकी मुक्ति हो जाती है, ऐसा माना जाता है। आपलोग गङ्गाजीके जलका स्नान एवं पान तो करते ही हैं, इस बातमें तो कोई कमी या कहनेकी बात है ही नहीं और न कोई ऐसी आवश्यकता ही है। कमी क्या है ? केवल मात्र मानना ही बाकी है कि गङ्गा-स्नानसे मुक्ति हो जाती है, तो निश्चय ही मुक्ति हो सकती है। इसलिये अब आपलोगोंको ऐसा दृढ़ विश्वास करके मान लेना चाहिये कि हमने तीर्थ-स्नान कर लिया, अब हमारे उद्धार होनेमें किसी प्रकारकी शंकाकी गुंजाइश नहीं है। इस प्रकार मान लेनेमें आपलोगोंकी कोई हानि तो होगी ही नहीं। कैसी दामी बात है। इसमें किसी प्रकारसे पैसोंका भी खर्च नहीं है।

आपको ये दो प्रकारके साधन बतलाये गये हैं।

पहला साधन तो है संसारमें सब लोगोंमें परमात्माका स्वरूप समझना, दूसरा साधन जो परमात्माकी प्राप्ति करानेवाला है वह है इसी जन्मको अन्तिम जन्म समझ लेना और भगवान्‌की प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना। भगवान् गीतामें कहते हैं कि—

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः॥
(७।१९)

बहुत-से जन्मोंके अन्तिम जन्ममें ज्ञानवान् मुझको प्राप्त होता है, तो यहाँ अन्तिम जन्म कहनेका क्या मतलब है ? ८४ लाख योनियोंके बादमें जो यह मनुष्य-शरीर आपको मिला है, यही अन्तिम जन्म समझना चाहिये। इस मनुष्य-जन्मको पाकर भी यदि आपलोगोंका कल्याण नहीं हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। अगर आपलोग इस मनुष्य-जन्मके योग्य ही नहीं होते तो भगवान्‌ने आप लोगोंको क्यों मनुष्य जन्म दिया ? भगवान् चाहते तो हमलोगोंको बन्दर, गधा या कुत्ता किसी भी तिर्यक् योनिमें जन्म दे सकते थे। उन्हें हमलोगोंको जन्म देनेमें स्वतन्त्रता थी। चाहे जैसा शरीर हमलोगोंको भगवान् दे देते— हमलोगोंकी तरफसे तो कोई एतराज था नहीं। भगवान्‌ने अपनी इच्छासे हमलोगोंको जो भी जन्म दिया वैसी ही योनि हमलोगोंको मिल गयी। अगर जन्म लेनेमें सबकी इच्छा व स्वतन्त्रता होती तो फिर सभी लोग मनुष्य-जन्म ही लेना पसन्द करते। चाहे मनुष्य-जन्म लेकर भूखों ही मरना पड़े, लेकिन गधा, कुत्ता आदिकी योनिको तो कोई भी नहीं चाहता। ८४ लाख योनियोंमें केवल इस मनुष्य-शरीरसे ही भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। इसलिये इस मनुष्य-जन्मको तो सब जन्मोंका अन्तिम जन्म समझ लेना चाहिये। इस प्रकारका विश्वास कर लेना चाहिये। ऐसा विश्वास करनेपर बहुत शीघ्र काम बन सकता है।

इसलिये यह मनुष्य-शरीर ही सब जन्मोंका अन्तिम जन्म है। और यह जन्म ही आगेके बहुत-से जन्मोंका, जो हो सकते हैं उन सबका, अन्त करनेवाला है। बस, ऐसा विश्वास कर लेना चाहिये। इसमें कुछ भी परिश्रमका काम नहीं है। मान लें कि हमलोगोंने ऐसा विश्वास कर लिया कि हमलोगोंपर भगवान्‌की कृपा है, हमारा कल्याण हो सकता है तो निश्चय ही हमारा कल्याण हो सकता है, इसमें किसी प्रकारकी शङ्का होनी ही नहीं चाहिये।

सब प्रकारकी चेष्टाएँ तथा क्रियाएँ भगवान्‌की लीलाएँ ही हो रही हैं, इस प्रकार समझनेमें आपको न तो किसी प्रकारका परिश्रम है और न रुपये-पैसोंका ही खर्च है। जड़-चेतनकी जो भी क्रियाएँ हैं—उन सबको देख-देखकर खुश होना चाहिये और समझना चाहिये, यह जो कुछ भी हो रहा है, सब भगवान्‌की लीला हो रही है। आपलोग जो सिनेमा, थियेटर, नाटक आदिमें जाकर लीला देखा करते हैं, वह तो मनुष्योंकी बनायी गयी लीला यानी बनावटी लीला है। लेकिन जो कुछ यह सब दैवेच्छासे हो रहा है, यह मनुष्यकी बनायी हुई लीला नहीं है। यह सब भगवान्‌की लीला है। इसको असली लीला समझकर आनन्दमग्न होना चाहिये। इस प्रकारका भाव हो जानेपर राग-द्वेषका अभाव होकर ही रहेगा और राग-द्वेष न रहनेपर काम एवं क्रोधका अपने-आप ही नाश हो जाता है; क्योंकि राग-द्वेषके ही कारणसे काम एवं क्रोधकी उत्पत्ति होती है। इसलिये सबको भगवान्‌की माया समझ लेनेपर राग-द्वेषका अभाव होकर उनसे काम एवं क्रोधका नाश ही केवल हो जाता हो, इतनी ही बात नहीं है। इनके नाश होनेके साथ-साथ जो आपलोगोंके मनमें ईर्ष्या और जो मनमें वैर आदिकी भावना है, इन सबकी भी साथ-ही-साथ समाप्ति हो जाती है। इसलिये यह जो भी कुछ चेष्टा होती है, वह सब भगवान्‌की ही लीला है, ऐसा मानना और भाव रखना बहुत ही दामी (मूल्यवान्) चीज है।

अपने-आप जो कुछ हो रहा है, उसको ऐसा समझ लेना अथवा मान लेना है कि यह सब भगवान्‌की लीला हो रही है। ऐसा मान लेनेपर आपलोगोंको उस सुख, शान्ति एवं आनन्दकी निश्चितरूपसे प्राप्ति होगी जो आजतक नहीं मिली है। इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है। यह शान्ति तबतक मिलती रहेगी ! जबतक आप सब चेष्टाओंको भगवान्‌की लीला मानते रहेंगे। अगर आपलोगोंको इस बातका विरोध ही करना है कि यह सब प्रकारकी चेष्टाएँ भगवान्‌की लीला वास्तवमें नहीं हैं, कैसे मान लें ? तो आप इसका विरोध कर सकते हैं। परंतु आपलोगोंको अपने कल्याण करनेका कितना सीधा उपाय बतलाया है, इसपर ध्यान देना चाहिये एवं इस प्रकारकी मान्यता कर लेनेमें आपलोगोंको किसी प्रकारका परिश्रम या पैसोंका खर्च नहीं है। ये तीन प्रकारकी बातें आपलोगोंको केवल माननेकी ही बतलायी गयी हैं, करनेकी नहीं बतलायी है। इनको माननेमें किसी प्रकारका परिश्रम नहीं है; करनेमें तो परिश्रमका काम हो सकता है। इस प्रकार ये तीन बातें जो आपको माननेके लिये बतलायी गयीं, उनको फिरसे बतलाया जाता है।

१—यह जो भी कुछ है सो सब परमात्माका स्वरूप है।

२—यह मनुष्यजन्म सब जन्मोंका अन्तिम जन्म है। इस जन्मके बाद आपलोगोंको दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ेगा। यह मानव-शरीर हमलोगोंको भगवान्‌की दयासे मिला है। जब भगवान्‌की हमलोगोंपर इतनी बड़ी भारी दया है तो क्या अब भी हमारा कल्याण होनेमें किसी प्रकारका संशय है ? कभी नहीं, ऐसा मानना चाहिये।

३—जो भी कुछ चेष्टाएँ हो रही हैं, सब भगवान्‌की लीला हो रही हैं—ऐसा समझकर आपलोग खेल देखते रहें। सिनेमा, थियेटर, नाटक, रामलीला, कृष्णलीला— ये सब तो लोगोंकी बनायी हुई नकली लीला है, असली लीला नहीं है। असली लीला तो वही है जो भगवान्‌की बनायी हुई है। इस प्रकारसे यह तीन बातें बतलायी गयी हैं, जो माननेमात्रसे मनुष्यको कल्याणकी प्राप्ति करा देनेवाली हैं।

कुण्डलिनी शक्तिका रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीब्रह्मानन्दजी)

गोलाकार गेंडुर मारे रहनेसे सर्पको कुण्डली कहते हैं। उसीकी तरह गेंडुर मारे रहनेसे प्राणशक्ति भी कुण्डलिनी कही जाती है। यह साढ़े तीन कुण्डल लपेटे हुए मूलाधारके ऊपर सोयी रहती है, परंतु जाग्रत् होनेपर सीधी हो जाती है। मानव-देहमें मेरुदण्डके नीचे मूलाधार चक्र है। यहीं एक त्रिकोण स्थानमें दुर्गारूपिणी कुण्डलिनीशक्ति सुप्तावस्थामें स्थित है। साधनाद्वारा इसे ही जाग्रत् करना होता है।

मानव-देहमें मेरुदण्डके मध्य एक सूक्ष्म ज्योतिर्मय मार्ग है, जिसे सुषुम्ना कहते हैं। सुषुम्ना-मार्गके नीचे और ऊपर दो छिद्र होते हैं। निचले छिद्रको सुप्त कुण्डलिनी अपने मुँहसे बंद किये रहती है। इसका ऊपरी छिद्र ब्रह्मरंध्र है। सुषुम्ना-पथमें नीचेसे ऊपरतक कुल सात चक्र होते हैं। उन चक्रोंके नाम और स्थान इस प्रकार हैं—

१-मूलाधारचक्र—मेरुदण्डके नीचे, **२-स्वाधिष्ठानचक्र**—मूलाधारके ऊपर, **३-मणिपूरचक्र**—नाभिमें, **४-अनाहतचक्र**—हृदयमें, **५-विशुद्धिचक्र**—वक्षोग्रीवासंधिमें, **६-आज्ञाचक्र**—दोनों भौंहोंके बीच, तथा **७-सहस्रारचक्र**—सिरके ऊपरी भागमें।*

सामान्यतया कुण्डलिनी सोयी रहती है। अपान तथा प्राणवायुके सम्मिलित योगसे वह जाग्रत् होती है और प्राणवायुके साथ सुषुम्ना-पथसे ऊपरकी ओर यात्रा करती है।

अपान-वायु नाभिसे नीचेके भागोंमें पहलेसे ही प्राकृतिक रूपमें विद्यमान रहती है, केवल प्राणवायुको प्राणायामद्वारा खींचकर अपान-वायुसे मिलाया जाता है और इसके सम्यक् प्रयोगसे कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपर उठना प्रारम्भ कर देती है।

कुण्डलिनी-जागरणका उद्देश्य

कुण्डलिनी-जागरणद्वारा ही आत्मसाक्षात्कार सम्भव है। जबतक यह शक्ति जाग्रत् नहीं होती, तबतक सभी दिव्य शक्तियाँ भीतर सोयी रहती हैं। बिना कुण्डलिनी-जागरणके किसी भी तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र अथवा पूजा-अनुष्ठानमें सिद्धि प्राप्त नहीं होती। कुण्डलिनी-जागरणसे अनेकों पूर्वजन्मोंका ज्ञान हो जाता है। भूत और भविष्यकी सारी घटनाएँ पहले ही ज्ञात हो जाती हैं। सूक्ष्म लोकोंके दृश्य दिखायी पड़ने लगते हैं। एकके बाद एक अनेकों ब्रह्माण्डके रहस्य खुलने प्रारम्भ हो जाते हैं। इसके जागरणसे भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकारकी सफलताएँ प्राप्त होती हैं।

कुण्डलिनीका स्वरूप

कुण्डलिनी विद्युत्-आभायुक्त सुनहली एवं लचकदार होती है, उसकी पूँछ मूलाधारसे जुड़ी रहती है। यह दुर्गारूपी शक्ति संकोचन और प्रसारणशक्ति-सम्पन्न होती है। कुण्डलिनीकी पूँछमें दो तत्त्व होते हैं और सिरमें तीन तत्त्व होते हैं।

क्या कुण्डलिनी स्वतः भी जाग्रत् हो सकती है ?

यदि पिछले जन्मोंमें किसीकी कुण्डलिनी जाग्रत् हो चुकी है तो इस जन्ममें भी वह जाग्रत् अवस्थामें ही रहती है और कभी-कभी अचानक ही स्वतः जागकर सहस्रारतक पहुँच जाती है और व्यक्तिको आत्म-साक्षात्कार हो जाता है।

कुण्डलिनीजागरण एवं पूर्वजन्मोंकी स्मृतियाँ

यदि किसीकी कुण्डलिनी जगी हो तो उसकी चेतना माँके गर्भमें भी बनी रहती है। महाभारतमें एक कथाका

* इनके चित्र योगाङ्कके पृ० ३८८–३९३में, शक्ति-अङ्कके पृष्ठ ४५२ आदिमें द्रष्टव्य हैं।

उल्लेख है कि जब अर्जुन अपनी पत्नी सुभद्राको चक्रव्यूह-भेदनकी विधि बता रहे थे तो व्यूह छः द्वारोंतक तोड़नेकी विधि उन्होंने बतायी । उस समय सुभद्राके गर्भमें अभिमन्यु था, जिसकी कुण्डलिनी जगी हुई थी और उसने छः द्वारोंको तोड़नेकी विधियाँ सुनीं, जो उसे गर्भसे बाहर आनेके बाद भी स्मृतिमें बनी रहीं ।

बहुतसे छोटे बालकोंको अचानक उनके पूर्वजन्मकी कुछ स्मृतियाँ याद आ जाती हैं, यह केवल कुण्डलिनी जागरणसे ही सम्भव है । अचानक उनकी कुण्डलिनी किसी चक्रको भेदती है, जहाँ पूर्वजन्मकी स्मृतियाँ इकट्ठी रहती हैं और बालकको अपना पूर्वजन्म याद आ जाता है ।

अनेक साधकोंको कुण्डलिनी-जागरणके दौरान उनके पूर्वजन्मकी बहुत-सी घटनाएँ दिखायी पड़ती हैं ।

क्या कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेशके बाद फिर नीचे उतर सकती है ?

कुण्डलिनी ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेशके बाद फिर नीचे नहीं उतर सकती और ऐसे समयमें उसकी पूँछ मूलाधारसे छूट जाती है । उस समय अपानवायु निकल जाती है और प्राणवायुको नीचे शरीरके अन्दर नहीं खींच पाती । ऐसे विलक्षण समयमें शरीरसे दो तत्त्व गिर जाते हैं और सूक्ष्म शरीर कुण्डलिनीसहित व्योममें तीन तत्त्वद्वारा बने शरीरमें रह जाता है ।

आत्मसाक्षात्कार कैसे ?

जब कुण्डलिनी सहस्रारके ब्रह्मरन्ध्रमें प्रवेश करती है तब वह सहस्रारसे निरन्तर गिरते हुए अमृतका पान करने लगती है । वह अपनी पूँछको मूलाधार चक्रसे खींचने लगती है । इस समय साधकको कुछ कष्ट भी अनुभव हो सकता है । कुण्डलिनी कभी-कभी एक ही झटकेमें और कभी-कभी धीरे-धीरे अपनी पूँछ मूलाधारसे खींच लेती है । अब वह सर्पिणी सिकुड़कर छोटी-सी हो जाती है और सहस्रारसे चिपक जाती है । ऐसे समयमें मूलाधारसे उसका सम्पर्क छूट जाता है । उसकी पूँछके दो तत्त्व पृथ्वी और जल विलीन हो जाते हैं । पृथ्वीतत्त्व विलीन होनेके कारण कुछ साधक पृथ्वीके गुरुत्वाकर्षणका उल्लंघन कर सकते हैं और उनका शरीर पृथ्वीसे ऊपर उठ सकता है । यदि इस स्थितिमें साधना आगे जारी रखी जाय तो आकाशमें शरीरके उड़नेकी क्षमता भी प्राप्त हो सकती है ।

अब शरीरकी तत्त्वकी संरचनामें तेजीसे परिवर्तन होने लगता है । शरीरमें सूक्ष्म शक्तियाँ जागृत हो जाती हैं । शरीरकी स्थूलता दिनोंदिन घटने लगती है । शरीर हर समय ऊर्जासे भरा रहता है । आनन्द पल-पल बढ़ता ही जाता है । मन सदैव प्रफुल्लित रहता है ।

परमात्माकी ओर सहज ही निरन्तर ध्यान आकृष्ट रहता है । विचार शून्य हो जाते हैं । कभी-कभी क्षणिक समाधि लगने लगती है । तन्द्रा जैसी स्थिति भी कभी-कभी आ जाती है और साधक आनन्दमें लीन हो जाता है । अनेक सूक्ष्म लोकोंके दृश्य अन्तर्दृष्टिमें दिखायी देने लगते हैं । मन शान्त और विचारशून्य हो जाता है तथा ब्रह्माण्डका प्रत्येक दृश्य प्रत्यक्ष हो जाता है और स्वयंको जानकर इतने बड़े ब्रह्माण्डमें अपने कुछ न होनेका या सबमें अनुस्यूत होनेका बोध होने लगता है । अहंकार अपनेको जानते ही विलीन होने लगता है । फिर सर्वरूप सर्वव्याप्त परमात्मामें प्रवेश प्रारम्भ होता है । यहाँसे अब महाशून्यकी यात्रा प्रारम्भ होती है और साधक निर्वाणकी ओर चल पड़ता है ।*

---

* योगशिख, योगकुण्डलिनी उपनिषद्, योगवासिष्ठ, शिवसंहिता, वरिवस्यारहस्य, रुद्रयामल आदिमें कुण्डलिनी विवेचन बहुत विस्तारसे है । समग्र रुद्रयामलमें कुण्डलिनीका वर्णन है, उसे देखकर ही पूरी प्रक्रिया समझना ठीक है ।(-सं०)

भगवान् कहाँ रहते हैं ?

(नित्यलीलालीन परम श्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

[गताङ्क ५, पृष्ठ-संख्या ५८० से आगे]

(२)

हरिने कहा, 'जो स्त्री पुत्रकी अपेक्षा सौ गुने स्नेहसे पतिकी सेवा करती है और शासनमें उसे राजाके समान मानती है, वही स्त्री पतिव्रता है—

कार्ये दासी रतौ रम्भा भोजने जननीसमा।
विपत्सु मन्त्रिणी भर्तुः सा विज्ञेया पतिव्रता॥

'जो स्त्री कार्य-कालमें दासी, रतिकालमें रम्भा, भोजन करानेमें जननी और विपत्तिकालमें सत्परामर्श देनेवाली होती है, वही पतिव्रता है।' जो स्त्री मन, वाणी, शरीर और कर्मसे कभी पतिके विरुद्ध आचरण नहीं करती, वही पतिव्रता है, जो केवल अपने पतिकी शय्यापर ही सोती है, नित्य पतिकी सेवा करती है, कभी मत्सरता, कृपणता या अभिमान नहीं करती, मान-अपमानमें पतिको समानभावसे ही देखती है, वही साक्षात् पतिव्रता है। जो सती स्त्री सुन्दर वस्त्राभूषण-धारी पिता, भ्राता और पुत्रको देखकर भी उन्हें पर-पुरुष समझती है वही यथार्थ पतिव्रता है। हे द्विजवर! तुम उस पतिव्रताके पास जाकर अपनी मनःकामना उससे कहो। तुम जिसके घर जा रहे हो, उस ब्राह्मणके आठ स्त्रियाँ हैं, उनमें जो रूपयौवनसम्पन्ना, यशस्विनी और दयावती है उसीका नाम शुभा है; वह प्रसिद्ध पतिव्रता है। तुम उसके पास जाकर अपने हितकी बातें उससे पूछो।' इतना कहकर भगवान् हरि अन्तर्धान हो गये। नरोत्तमको उनके अन्तर्धान होते देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने उस पतिव्रताके घर पहुँचकर उससे अपने हितकी बात पूछी। पतिव्रता सती अतिथिकी बात सुनकर घरके बाहर आयी और ब्राह्मणको देखकर दरवाजेपर खड़ी रह गयी। ब्राह्मणने पतिव्रताको देखकर हर्षके साथ कहा—'साध्वी! आपको जो कुछ मालूम है सो मेरे हितके लिये कहिये।' पतिव्रताने कहा—'इस समय तो मुझे पतिकी सेवा करनी है, मुझे अभी फुरसत नहीं है, पीछे आपका काम करूँगी'। ब्राह्मणने कहा—'मुझे आज भूख, प्यास या थकावट कुछ भी नहीं है। मैं जिस विषयको जानना चाहता हूँ वह मुझे बतला दो, नहीं तो मैं तुम्हें शाप दूँगा!' इसपर पतिव्रताने कहा कि 'हे द्विजोत्तम! मुझे आप वह बगुला न समझें। आप धर्मतुलाधारके पास जाकर उससे अपने हितकी बात पूछें, वे आपको हितोपदेश करेंगे।'

महाभागा शुभा इतना कहकर घरके अंदर चली गयी। इसके बाद नरोत्तमने उसके घरमें जाकर देखा कि वही ब्राह्मण जो मूक चाण्डालके घरमें था और बहुत दूरतक मेरे साथ-साथ आया था, यहाँ भी बैठा हुआ है। नरोत्तमको इससे बड़ा अचम्भा हुआ। उसने ब्राह्मणरूपी विष्णुके पास जाकर कहा कि 'देशान्तरमें मेरे सम्बन्धमें जो घटना हुई थी, मालूम होता है आपने ही इन लोगोंसे उसे कह दिया है, नहीं तो चाण्डाल और इस पतिव्रताको मेरी उस घटनाका हाल कैसे मालूम होता?' हरिने कहा—'भूतभावन महात्मागण अपने पुण्य और सदाचारके बलसे सभी बातें जान सकते हैं। पतिव्रताने तुमसे क्या कहा है सो मुझे बतलाओ।' नरोत्तमने कहा—'मुझे पतिव्रताने धर्म-तुलाधारके पास जाकर प्रश्न करनेका आदेश किया है।' हरिने कहा—'अच्छी बात है, तुम मेरे साथ चलो, मैं भी वहीं जाऊँगा।' इतना कहकर हरि

चलनेको तैयार हो गये। नरोत्तमने पूछा—'उस धर्म-तुलाधारका मकान कहाँ है ?' हरि बोले—'जहाँपर लोग बहुत-सी चीजें खरीदते-बेचते हैं, उसी बाजारमें तुलाधार रहते हैं। सभी लोग धान, रस, तैल, अन्न आदि वस्तुएँ उनके धर्मकाँटेपर तौलकर देते-लेते हैं। वे नरश्रेष्ठ प्राण जानेपर भी कभी झूठ नहीं बोलते। उनके इसी कामसे उनका नाम धर्म-तुलाधार पड़ गया है।' हरिके इतना कहते-कहते ही नरोत्तम तुलाधारके पास पहुँच गया। देखा कि तुलाधार बहुत-सा रस बेच रहा है। उसका शरीर मैला-कुचैला हो रहा है। वह लेन-देन-सम्बन्धी अनेक प्रकारकी बातें कर रहा है। अनेक प्रकारके नर-नारियोंने उसे चारों ओरसे घेर रखा है। तुलाधारने ब्राह्मणको देखते ही कहा—'क्यों-क्यों ! क्या काम है ?' यों उसकी बात सुनकर ब्राह्मणने मधुर वाणीसे कहा—'भाई ! मैं तुम्हारे पास धर्मोपदेश ग्रहण करने आया हूँ, तुम मुझे उपदेश करो।' तुलाधारने कहा—'महाराज ! अभी तो मेरे ग्राहकोंकी भीड़ लग रही है, एक पहर राततक मुझे फुरसत नहीं मिलेगी। आप मेरे कहनेसे धर्माकरके पास जाइये। बगुलेकी हिंसाका दोष और आकाशमें धोती न सूखनेका कारण आदि सभी बातें वे आपको बतला सकते हैं। उनका नाम अद्रोहक है। वे बड़े ही सज्जन हैं। उनके उपदेशसे आपके सम्पूर्ण काम सफल हो सकेंगे।' ब्राह्मणसे इतना कहकर तुलाधार फिर अपने लेन-देनमें लग गया। तब नरोत्तमने ब्राह्मण-वेषधारी हरिसे कहा—'महाराज ! मैं तुलाधारके उपदेशसे अद्रोहकके पास जाऊँगा। परंतु मैं उनका घर नहीं जानता, क्या आप बतला देंगे ?' हरिने कहा—'आओ, आओ ! मैं भी तुम्हारे साथ उनके घर चलूँगा।' रास्तेमें नरोत्तमने हरिसे पूछा—'महाराज ! यह तुलाधार समयपर स्नान या देव-पितृतर्पण कुछ भी नहीं करता। इसका सारा शरीर मैला हो रहा है, कपड़ोंमें गन्ध आ रही है। यह मेरी देशान्तरमें होनेवाली घटनाओंको कैसे जान गया ? यह सब देखकर मुझे बड़ा ही आश्चर्य हो रहा है, आप इसका कारण बतलाइये।' हरिने कहा—'सत्य और समदर्शनके प्रभावसे तुलाधारने तीनों लोकोंको जीत लिया है। इसीसे देव-पितर और मुनिगण भी इससे तृप्त हो गये हैं और इसी कारणसे यह भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकी सब कुछ जानता है—

नास्ति सत्यात् परो धर्मो नानृतात् पातकं परम्।
विशेषे समभावस्य पुरुषस्यानघस्य च॥
अरौ मित्रेऽप्युदासीने मनो यस्य समं व्रजेत्।
सर्वपापक्षयस्तस्य विष्णुसायुज्यतां व्रजेत्॥

'सत्यसे बढ़कर परम धर्म नहीं है और झूठसे बढ़कर बड़ा पाप नहीं है। जो निष्पाप समदर्शी पुरुष हैं, शत्रु, मित्र और उदासीन सभी जिनके मनमें समान हैं, उनके समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और वे विष्णुभगवान्के सायुज्य-(मोक्ष-)को प्राप्त होते हैं।' जो मनुष्य सदा ही ऐसा व्यवहार करते हैं वे अपने कुलोंका उद्धार करनेवाले होते हैं। सत्य, दम, शम, धैर्य, स्थिरता, अलोभ, अनैश्वर्य और अनालस्य सभी उनमें रहते हैं। वह धर्मज्ञ देवलोक और परलोकके सभी विषयोंको जानते हैं, उनकी देहमें साक्षात् श्रीहरि निवास करते हैं, जगत्में उनके समान कोई नहीं होता। जो सत्य, सरल और समदर्शी हैं, वे साक्षात् धर्ममय हैं। वास्तवमें इस जगत्को वे धारण करते हैं।' इसपर नरोत्तमने कहा—'आपकी कृपासे मैंने तुलाधारका रहस्य तो जाना, अब यदि आप उचित समझें तो अद्रोहकका भी इतिहास बतला दें।' हरिने कहा—'किसी एक राजकुमारके सुन्दरी नामकी एक परम सुन्दरी नवयुवती भार्या थी। वह अपने पतिको बड़ी ही प्यारी थी। राजकुमारको किसी खास कामसे अकस्मात् बाहर जानेकी आवश्यकता पड़ी। वह अपने मनमें चिन्ता करने लगा कि 'इस

प्राणोंकी पुतली प्रियाको किसके पास छोड़कर जाऊँ, कहाँ इसकी रक्षा हो सकेगी ?'

अन्तमें उसने अद्रोहकके पास जाकर कहा कि 'मैं बाहर जाता हूँ, जबतक लौटकर न आऊँ तबतक मेरी इस नवयुवती सुन्दरी स्त्रीकी रक्षाका भार तुम ग्रहण करो।' राजकुमारके इस प्रस्तावसे अद्रोहकने आश्चर्यमें पड़कर कहा कि 'मैं तो आपका पिता, भाई या मित्र नहीं हूँ, न आपके माता-पिताके कुलसे ही मेरा सम्बन्ध है। आपकी पत्नीसे भी मेरा कोई कौटुम्बिक सम्बन्ध नहीं है, इस अवस्थामें मेरे घर अपनी स्त्रीको रखकर आप कैसे स्वस्थ रह सकेंगे ?' राजकुमारने कहा, 'संसारमें आपके समान धर्मज्ञ और जितेन्द्रिय पुरुष दूसरा कोई नहीं है।' अद्रोहकने कहा—'आप बुरा न मानें, देखिये, त्रैलोक्यमोहिनी भार्याकी कौन पुरुष रक्षा कर सकता है ?' राजकुमार बोले—'मैं अच्छी तरह सोच-समझकर ही आपके पास आया हूँ। मेरी स्त्रीको आप ही रखिये, मैं अपने घर जाता हूँ।' राजपुत्रके ऐसा कहनेपर अद्रोहकने फिर कहा—'इस शोभायुक्त नगरीमें कामी पुरुषोंकी भरमार है। मैं कैसे आपकी स्त्रीकी रक्षा कर सकूँगा ?' राजकुमारने कहा—'आप जैसे ठीक समझें, वैसे ही रक्षा करें, मैं चलता हूँ।' गृहस्थ अद्रोहकने धर्म-संकटमें पड़कर राजकुमारसे कहा—'हे पिता ! मैं इस अरक्षिता स्त्रीकी रक्षाके निमित्त जो देखनेमें अनुचित होगा, ऐसा कर्म भी उचित और हितकर समझकर करूँगा। मैं इसे रातको अकेली नहीं रख सकता, अतएव मैं अपनी भार्याके साथ जिस शय्यापर सोता हूँ, उसीपर इसे भी सोना पड़ेगा। आपको इसमें आपत्ति हो तो अपनी स्त्रीको वापस ले जाइये, नहीं तो छोड़ जाइये।' राजकुमारने कुछ देरतक सोचकर कहा—'अच्छी बात है, आप जैसा उचित समझें वैसा ही करें।' तदनन्तर राजकुमारने अपनी पत्नीसे कहा—'सुन्दरि ! इनके आज्ञानुसार सब काम करना, इसमें तुम्हें कोई दोष नहीं लगेगा।' राजपुत्र इतना कहकर अपने पिता नरेशके आज्ञानुसार वहाँसे चला गया। अद्रोहकने रातको वही किया। वह धार्मिक पुरुष रातको अपनी स्त्री और राजपुत्रकी पत्नीके बीचमें एक शय्यापर सोने लगा, परंतु धर्मपथसे कभी नहीं डिगा। राजकुमार-पत्नीका नींदमें कभी स्पर्श होता तो उसे अपनी जननीके समान प्रतीत होता। वह इस प्रकार मन-इन्द्रियोंको जीतकर रहा कि उसकी स्त्रीसङ्ग-प्रवृत्ति ही जाती रही। इस प्रकार छः महीने बीतनेपर राजकुमार विदेशसे लौटकर घर आया। बराबरीवालोंने उससे पूछा—'तुम्हारी स्त्री तुम्हारी अनुपस्थितिमें कहाँ रही है ?' उसने कहा—'अद्रोहकके घर।' कुछ युवकोंने व्यङ्गसे कहा—'अच्छा किया जो अपनी स्त्री अद्रोहकको दान कर गये, वह रातको उसके साथ सोता था। स्त्री-पुरुषके एक साथ सोनेपर भी क्या कभी संयम रह सकता है ?' इस तरह लोग तरह-तरहके दोष लगाने लगे। अद्रोहकको इस बातका पता लगा, तब उसने इस जनापवादकी निवृत्तिके लिये काठकी एक चिता बनाकर उसमें आग लगा दी। इतनेमें ही राजपुत्र वहाँ आ पहुँचा। राजकुमारने अपनी स्त्रीको प्रसन्नमुख और अद्रोहकको विषादयुक्त देखकर अद्रोहकसे कहा—'भाई ! मैं आपका मित्र बहुत दिनों बाद विदेशसे लौटकर आया हूँ, आप मुझसे बोलते क्यों नहीं हैं ?'

अद्रोहकने कहा—'मैंने आपकी स्त्रीको घर रखकर बदनामी मोल ले ली, उसे दूर करनेके लिये मैं आज अग्निमें प्रवेश करूँगा, सम्पूर्ण देवता मेरे कृत्यको देखें।' इतना कहकर अद्रोहक धधकती हुई अग्निमें कूद पड़ा, परंतु आश्चर्य कि उसका एक बाल भी नहीं जला ! देवतागण आकाशसे 'साधु-साधु' कहने लगे। चारों ओरसे पुष्पवृष्टि होने लगी। जिन लोगोंने

अद्रोहकपर दोष लगाया था, उनके मुखोंपर कुष्ठ रोग हो गया। देवताओंने आकर उसको अग्निसे निकाला। मुनियोंने विस्मित होकर सुन्दर पुष्पोंसे उसकी पूजा की। फिर महातेजस्वी अद्रोहकने भी उन सबकी पूजा की। सुर-असुर और मनुष्योंने मिलकर अद्रोहकका नाम सज्जनाद्रोहक रक्खा। उसकी चरण-रजसे पृथ्वी हरी-भरी हो गयी। तब देवताओंने राजकुमारसे कहा कि 'तुम अपनी स्त्रीको ग्रहण करो, अद्रोहकके समान जगत्में दूसरा कोई नहीं है। जगत्में सभी लोग कामके वश हैं। काम, क्रोध, लोभ सभी प्राणियोंमें हैं, कामसे संसारमें बन्धन होता है, यह जानकर भी लोग अकामी नहीं होते। इस अद्रोहकने कर्तव्यपालनके लिये कामको जीतकर मानो चौदह भुवनोंको जीत लिया है। इसके हृदयमें नित्य वासुदेव विराजमान हैं।' यों कहकर सब लोग और अपनी पत्नीसहित राजपुत्र अपने-अपने घर चले गये। उस समय अद्रोहकको कामजयके प्रतापसे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी। वह तीनों लोकोंकी सभी बातोंको अनायास देखने और जाननेमें समर्थ हो गया।

इस प्रकार बातें होते-होते ही नरोत्तम ब्राह्मण अद्रोहकके घर आ पहुँचा। नरोत्तमने अद्रोहकसे धर्मका तत्त्व पूछा। अद्रोहकने कहा—'हे धर्मज्ञ विप्र! आप पुरुषोत्तम वैष्णवके घर जाइये, उनके दर्शनसे ही आपकी मनःकामना पूर्ण हो जायगी। बगुलेकी मृत्यु और धोती सूखने आदिके सभी भेद वे आपको बता सकते हैं।' नरोत्तम यह सुनकर ब्राह्मण-वेषधारी विष्णुके साथ पुरुषोत्तम वैष्णवके घर आया। नरोत्तमने देखा कि वैष्णव परम शुद्ध, शान्त, समस्त उत्तम लक्षणोंसे युक्त और अपने तेजसे देदीप्यमान हो रहे हैं। धर्मात्मा नरोत्तमने उन ध्यानस्थ भगवद्भक्तसे कहा—'मैं बहुत दूरसे आपके पास आया हूँ, आप मुझे उपदेश कीजिये।'

पुरुषोत्तम बोले—'देवश्रेष्ठ भगवान् हरि सदा ही तुमपर प्रसन्न हैं। हे ब्राह्मण! आज तुम्हें देखकर मेरे मनमें बड़ा आह्लाद हो रहा है। मेरे घरमें भगवान्के दर्शनसे तुम्हारा अतुलनीय कल्याण होगा। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।' नरोत्तमने कहा—'आपके घरमें विष्णु-भगवान् कहाँ विराजमान हैं? कृपाकर मुझे दिखला दें।' वैष्णवने कहा—'इस रमणीय देवमन्दिरमें प्रवेश करते ही तुम भगवान्के दर्शन कर घोर पाप और जन्म-कर्मके बन्धनोंसे छूट जाओगे।' वैष्णवके इन वचनोंको सुनकर नरोत्तमने मन्दिरमें प्रवेश करके देखा कि भगवान्की मूर्तिकी जगह वही ब्राह्मण-वेषधारी विष्णु उसी रूपमें पद्मासनसे बैठे हुए हैं। नरोत्तमने उनको देखते ही नतमस्तक हो प्रणामकर उनके चरण पकड़ लिये और कहा—'हे देवेश! मैं आपको पहले पहचान न सका। अब आप मुझपर प्रसन्न होइये। हे प्रभो! मैं इस लोक और परलोकमें आपका दास बना रहूँ। हे मधुसूदन! मुझपर कृपादृष्टि कीजिये। यदि वास्तवमें आपकी मुझपर कृपा है तो अपने स्वरूपका मुझे दर्शन कराइये।' भगवान्ने कहा—'हे भूदेव! तुम्हारे प्रति सर्वदा ही मेरा स्नेह है। स्नेहके वश होकर ही मैं भक्तोंको दर्शन दिया करता हूँ। पुण्यात्मा पुरुषोंके एक बारके दर्शन, स्पर्श, ध्यान, कीर्तन और सम्भाषणसे ही पुण्य-लोककी प्राप्ति होती है। उनके नित्य-सङ्गसे तो सारे पाप छूट जाते हैं और अन्तमें वह उनका सङ्ग करनेवाला मुझमें मिल जाता है। तुम मेरे भक्त हो, बक-वधसे तुम्हें जो पाप हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये तुम फिर उसी मूकके पास जाओ। मूक चाण्डाल पुण्यात्माओंमें प्रधान तीर्थरूप है। उसके दर्शन और मेरे साथ सम्भाषण होनेके कारण ही तुम मेरे मन्दिरमें आ सके हो। जो करोड़ों जन्मोंतक निष्पाप रहते हैं, वे ही धर्मात्मा पुरुष मेरा दर्शन करनेमें समर्थ हो सकते हैं, अतएव अब तुम अपना इच्छित वर माँगो।'

ब्राह्मणने कहा—'हे सर्वलोकेश्वर ! मैं यही चाहता हूँ कि मेरा मन सर्वथा आपमें लगा रहे, आपके सिवा और किन्हीं भी पदार्थोंमें मेरा प्रेम न हो ।' भगवान्‌ने कहा—'जब तुम्हारी बुद्धिका ऐसा विकास हो गया है, तब तुम्हारी इच्छा जरूर पूर्ण होगी। परंतु तुम्हारे माता-पिता अबतक तुम्हारी सेवासे वञ्चित हैं । तुम अपने माता-पिताकी सेवा कर चुकनेके बाद मुझमें विलीन हो सकोगे । तुम्हारे माता-पिताके दुःखभरे लंबे-लंबे श्वासोंकी वायुसे तुम्हारा तप नष्ट होता रहता है । अतएव तुम पहले उनकी पूजा करो । जिस पुत्रपर माता-पिताका कोप पड़ता है उसको नरकगामी होनेसे मैं, शिव या ब्रह्मा—कोई नहीं बचा सकते । इसलिये तुम अपने माँ-बापके पास जाकर बड़े यत्नसे उनकी पूजा करो । तदनन्तर उनके प्रसादसे तुम मुझे प्राप्त कर सकोगे ।' भगवान्‌के ये वचन सुनकर ब्राह्मणने फिर हाथ जोड़कर कहा—'हे नाथ ! हे अच्युत! आप यदि मुझपर प्रसन्न हैं तो एक बार अपने दिव्यरूपका दर्शन कराइये ।' उसके बाद प्रसन्न-हृदय भगवान्‌ने प्रेमवश ब्राह्मणको अपने स्वरूपका दर्शन कराया । ब्राह्मणने देखा—'पुरुषोत्तम हरि शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं । उनके तेजसे समस्त जगत् परिपूर्ण हो रहा है । वे ही सम्पूर्ण लोकोंके कारण हैं ।' उसने दण्डवत् प्रणाम करके गद्‌गद वाणीसे कहा—'हे अच्युत! आज मेरा जन्म सफल हो गया । मेरे नेत्र प्रसन्न और दोनों हाथ श्लाघ्य हो गये । मैं आज धन्य हो गया । आज मेरे कुलके लोग सनातन ब्रह्मलोकको चले गये । मेरा समस्त मनोरथ आज पूर्ण हो गया । परंतु नाथ ! मेरा एक आश्चर्य अभी दूर नहीं हुआ है कि मूकादि सज्जनोंने मेरा पूर्व वृत्तान्त कैसे जाना और आप सुन्दर विप्ररूप धरकर मूक, पतिव्रता, तुलाधार, अद्रोहक और इस वैष्णवके घरमें क्यों नित्य निवास करते हैं ?'

भगवान्‌ने कहा—'ब्राह्मण ! मूक चाण्डाल सर्वदा अपने माता-पिताकी सेवामें रत है, शुभा नामकी स्त्री अनन्य पतिव्रता है, तुलाधार सत्यवादी और सर्वत्र समदर्शी है, अद्रोहक काम, लोभको जय कर चुका है तथा यह वैष्णव मेरा अनन्य भक्त है । इनके इन गुणोंसे प्रसन्न होकर ही मैं आनन्दपूर्वक इनके घर सदा लक्ष्मी और सरस्वतीसहित निवास करता हूँ और इन्हीं गुणोंके प्रतापसे ये लोग सब बातें जाननेमें समर्थ हैं । यदि हमलोग भगवान्‌का अपने घरमें निवास चाहते हैं तो हमें भी ऐसा बनना चाहिये । [यह आख्यायिका पद्म-पुराणके आधारपर लिखी गयी है ।]

मुझमें तेरी ही परिभाषा

(रचयिता—श्रीश्यामजी निगम)

भगवन् तेरे श्रीचरणोंमें,
जीवन यह अर्पित हो जाये ।
इच्छाएँ अब शेष रहें न,
मेरापन मुझसे मिट जाये ॥

तेरा रूप, तिहारा दर्शन,
तुझमें मेरा पन हो अर्पण ।
तू ही तू मुझमें दिख जाये,
तेरी शक्ल, तिहारा दर्पण ॥

तेरे भाव तिहारी भाषा,
तुझमें मिलनेकी अभिलाषा ।
मेरा मुझमें रहे न कुछ भी,
मुझमें तेरी ही परिभाषा ॥

सत्सङ्गकी आवश्यकता

(एक संतका प्रसाद)

[गताङ्क ५, पृष्ठ-संख्या ५७३ से आगे]

प्र०—परीक्षा करनेके लिये सत्सङ्ग करनेसे भी लाभ है या नहीं ?

उ०—परीक्षा करनेके लिये सत्सङ्ग करनेसे भी लाभ है; क्योंकि इस निमित्तसे वह सत्सङ्गमें आता है और महात्मा भी उसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कर सकते हैं कि इसकी आपमें प्रीति हो। यदि ऐसा न हो तो भला, सत्सङ्गकी महिमा ही क्या रहेगी ?

प्र०—दम्भ या मानवृद्धिके लिये सत्सङ्ग करनेसे भी लाभ होता है या नहीं ?

उ०—इससे भी लाभ ही है। पहले-पहल यह सब नकली होता है, पीछे धीरे-धीरे सब दोष दूर हो जाते हैं। पहले नकल होती है, पीछे वह असल हो जाती है। परंतु दम्भ और मानवृद्धिकी इच्छाको त्याग कर ही सत्सङ्ग करना चाहिये।

प्र०—सत्सङ्ग किनका करना चाहिये ?

उ०—जो पुरुष भगवान्‌के गुणानुवाद तो करता है, किंतु स्वयं कामी, क्रोधी अथवा लोभी है उसके विषयमें पहले मेरा ऐसा विचार था कि उसका सङ्ग न करें, किंतु एक महात्माने मुझसे कहा, 'हलवाईकी मिठाई खानेवाला उस हलवाईके गुण-दोष नहीं देखता।' परंतु यह बात ऊँची कोटिके लिये है, साधारण साधकके लिये नहीं। अतएव साधकके लिये तो सर्वसद्‌गुणसम्पन्न भगवद्‌भक्तका ही सङ्ग करना लाभप्रद है, नहीं तो दोष देखकर उसकी सत्सङ्गसे अरुचि हो जायगी, या वह दोषोंका अनुकरण करने लगेगा।

प्र०—क्या सत्सङ्गसे बढ़कर भी कोई सुलभ और सर्वोत्तम साधन है ?

उ०—सब साधनोंका सर्वोच्च मूल कारण सत्सङ्ग है। यह बीजरूप है और सब शाखा-प्रशाखा हैं। सत्सङ्ग सबसे सुलभ साधन है।

प्र०—सत्सङ्गके अभावमें सत्-शास्त्र विचार करनेके लिये प्रधान ग्रन्थ कौन-कौन-से हैं ?

उ०—मैंने तो चार ग्रन्थ प्रधान मान रखे हैं—उपनिषद्, गीता, रामायण और भागवत। विनयपत्रिका तो रामायणमें ही अन्तर्गत आती है। यों तो और भी अनेक उत्तम सद्‌ग्रन्थ हैं।

प्र०—सत्-शास्त्रके विचारसे भी सत्सङ्गके समान ही लाभ हो सकता है या नहीं ?

उ०—जो सत्-शास्त्रका विचार कर लेगा वही सत्सङ्गसे अधिक लाभ उठावेगा। यद्यपि सत्-शास्त्र-विचारकी अपेक्षा सत्सङ्गका महत्त्व बहुत बड़ा है, किंतु सत्सङ्गके साथ-साथ शास्त्र-विचार भी करना अवश्य चाहिये। जो अद्वैतवादी हैं, उनके लिये भी उपनिषदोंमें और श्रीमद्भागवतमें सब सामग्री मिल सकती है।

प्र०—महाराजजी, यदि सत्सङ्गमें जाकर चुपचाप बैठा रहे, कुछ भी न करे तो भी अच्छा है या नहीं ?

उ०—अरे, चुपचाप बैठना तो बहुत अच्छा है, परंतु चुपचाप बैठता कौन है ? मन तो काम करता ही रहता है। फिर भला चुपचाप बैठना कहाँ हुआ ?

प्र०—सत्सङ्ग किन्हें करना चाहिये ?

उ०—सत्सङ्गके अधिकारी तो सभी जीव हैं। मुख्यतया सत्पुरुषोंको तो सदा ही सत्सङ्ग करते रहना चाहिये। सत्पुरुषोंकी दो कोटियाँ हैं—साधक और सिद्ध। इन दोनोंको ही निरन्तर सत्सङ्ग करनेकी

आवश्यकता है। इनमें साधकको तो सत्सङ्ग करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है और सिद्धको अपने प्यारेका गुणगान सुननेसे आनन्द होता है। अतः दोनोंको ही सत्सङ्ग करते रहना चाहिये।

प्र०—सत्सङ्ग न करनेसे क्या हानि है?

उ०—बिना सत्सङ्गके भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। जो एकान्तमें रहकर भजन-साधन तो करता है, किंतु सत्सङ्ग नहीं करता, उसके आचरणमें यदि कोई त्रुटि होगी तो वह निवृत्त नहीं हो सकेगी। अतः सत्सङ्गमें चुपचाप बैठकर सत्पुरुषोंके वचन सुनते रहना—यह उत्तम पुरुषोंका लक्षण है, सत्सङ्गमें प्रश्न करना मध्यम कोटिके सत्सङ्गियोंका लक्षण है तथा तर्क या वाद-विवाद करना निकृष्ट पुरुषोंका स्वभाव है। जो बिलकुल मूर्ख हैं उन्हें सत्सङ्गसे और कोई लाभ न होगा तो सत्पुरुषोंमें प्रीति तो होगी ही और फिर प्रेमवश उनसे तद्रूपता भी प्राप्त हो जायगी।

प्र०—सत्सङ्गका अधिकारी कौन है?

उ०—हर-एक जीव सत्सङ्गका अधिकारी है। यहाँ-तक कि पशु-पक्षी भी सत्सङ्ग कर सकते हैं। देखो, हरिदासके सत्सङ्गसे गणिकाका भी उद्धार हो गया था। फिर किसी सत्पुरुषका उद्धार होनेमें तो सन्देह ही क्या है?

१—सन्त और भगवान्‌में अनुराग हो तो तीनों ताप मिट जाते हैं।

२—सच्छास्त्र और सन्त-महात्माओंका सङ्ग हो तो फिर किसी बातकी कमी नहीं रहती।

३—सत्सङ्गका फल तो यही है कि संसार धोखेकी टट्टी जान पड़े। बेटा-बेटी तथा धन-माल सब झूठा दिखायी पड़े। एक दिन मृत्यु अवश्य होगी, केवल चार दिनकी जिन्दगी है।

४—अधिक लाभ उन्हीं लोगोंके सत्सङ्गसे होता है जिनसे अपने इष्ट, साधन-क्रम और मनका मेल होता है। दूसरी निष्ठाके साधकोंका सङ्ग करनेसे कई बार अपने साधनोंमें सन्देह उत्पन्न हो जाता है। अतः उन्हीं सत्पुरुषोंका सङ्ग करना चाहिये, जिनसे अपना इष्ट मिले, क्रिया मिले और मन मिले।

५—जिस मनुष्यको कुत्तेमें अधिक प्रेम हो और वह अपना सारा समय और ध्यान उसीमें लगाये रहे तो उसे कुत्तेकी योनिमें ही जाना पड़ता है अर्थात् अगले जन्ममें वह कुत्ता बनता है। इसी प्रकार जो पहरेदार सूअरोंका पहरा देते हैं और जिनका ध्यान हर समय उन्हींमें लगा रहता है, वे फिर सूअरकी योनिमें ही जन्मते हैं। इसी प्रकार जिन मनुष्योंका साधुओंसे अधिक प्रेम होता है और जो अधिक साधुसेवी होते हैं वे अगले जन्ममें अवश्य साधु बनते हैं।

६—जिस प्रकारके पुरुषोंका सङ्ग होता है उनमें वैसी ही बातें हुआ करती हैं, जैसे व्यापारियोंमें व्यापार-की, साधुओंमें परमार्थकी तथा भक्तोंमें भगवान्‌की चर्चा होती है। अतः ऐसे लोगोंका ही सङ्ग करना चाहिये, जिनसे अपने पक्षकी विशेष पुष्टि हो।

७—सत्सङ्गमें धर्मसे प्रेम और अधर्मसे घृणा करनेकी तथा भगवान्‌से अनुराग और संसारसे वैराग्य करनेकी बातें कही जाती हैं। इसीसे सत्सङ्गकी इतनी महिमा है। मनुष्यको अपने छोटे-से-छोटे दोष सत्सङ्गसे प्रतीत तो हो जाते हैं, किंतु उन्हें त्यागनेकी प्रतिज्ञा करनी चाहिये, तभी उनसे छुटकारा मिल सकता है। 'हम किसीसे मजाक नहीं करेंगे,' 'क्रोध नहीं करेंगे,' अथवा 'निन्दा नहीं करेंगे'—ऐसी प्रतिज्ञाएँ करनेपर ही दोषोंका अन्त होता है। और, सच पूछा जाय तो दोषोंकी निवृत्तिका प्रधान साधन तो गुरुकृपा ही है—यह मेरा अपना अनुभव है। (समाप्त)

साधकोंके प्रति—

(श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

तत्त्वकी प्राप्ति हो जाय, और होते ही वह दृढ़ हो जाय, ऐसी बात बतायी जाती है। बिल्कुल सबके अनुभवकी बात है। जड़ प्रकृति परिवर्तनशील है, और चेतन परमात्मतत्त्वमें कभी परिवर्तन नहीं होता। वह सदा ज्यों-का-त्यों रहता है। न बदलनेवालेका और निरन्तर बदलनेवालेका—दोनोंका हमें अनुभव है। बचपनसे लेकर अभीतक मैं वही हूँ—इसमें 'मैं वही हूँ' यह अनुभव न बदलनेवालेका है। संसार, शरीर, मनोवृत्ति, भाव, घटना, परिस्थिति, अवस्था आदि बदलनेवाले हैं। यह सबका अनुभव है। परन्तु उन बदलनेवालेको जाननेवाले हम नहीं बदलते। बदलनेवालेमें जब हम स्थित रहते हैं, तब हमें सुख और दुःख होता है—**'पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते'** (गीता १३ । २०) अर्थात् पुरुष सुख-दुःखके भोगनेमें हेतु होता है। कौन-सा पुरुष? **'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि'** (गीता १३ । २१) अर्थात् प्रकृतिमें स्थित पुरुष ही भोक्ता बनता है। जो हमारी मनोवृत्ति बदलती है, हमारी अवस्था बदलती है, हमारी दशा बदलती है, हमारे भाव बदलते हैं, हमारी क्रियाएँ बदलती हैं, हमारी परिस्थितियाँ बदलती हैं—इन बदलनेवालोंमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम प्रकृतिमें स्थित होते हैं। मनमें जो काम-क्रोध, हर्ष-शोक, राग-द्वेष आदि वृत्तियाँ पैदा होती हैं, उनमें जब हम स्थित होते हैं, तब हम पराधीन होते हैं और सुख-दुःखका भोग करते हैं।

वास्तवमें एक दुःखके ही दो नाम सुख और दुःख हैं। जैसे दादकी बीमारी एक है, पर उसीके दो नाम खुजली और जलन हैं। खुजली अच्छी लगती है और जलन बुरी लगती है। तो जो अच्छी लगती है, वह भी बीमारी है और जो बुरी लगती है, वह भी बीमारी है। ऐसे ही बदलनेवालेके साथ मिलकर जो हम सुखी और दुःखी होते हैं, यह भी एक बीमारी है। बीमारीका मतलब यह कि हम अपने स्वरूपमें स्थित (स्वस्थ) नहीं हैं, प्रकृतिमें स्थित हैं। जब बदलनेवाली वृत्तियोंमें, भावोंमें, क्रियाओंमें स्थित नहीं होते, इनसे अलग रहते हैं, तब हम स्वस्थ रहते हैं। तब हम सुख-दुःखमें समान रहते हैं—**'समदुःखसुखः स्वस्थः'** (गीता १४ । २४)। सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं, परिस्थितियों और घटनाओंमें हम रहते हैं, यह हमारा अनुभव है। अगर ऐसा नहीं हो, तो सम्पूर्ण अवस्थाओं, दशाओं आदिका ज्ञान हमें कैसे होता? हमें इनका ज्ञान होता है, इससे सिद्ध होता है कि हम रहते हैं। हमें जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, मूर्च्छा, समाधिका ज्ञान होता है। सुख-दुःखका भी ज्ञान होता है। शोक, मोह, चिन्ता, राग, द्वेष आदिका भी हमें ज्ञान होता है। तो हम शोक, मोह, चिन्ता, भय, उद्वेग आदिसे रहित हैं। अगर ऐसा नहीं है, तो हमें सुखका अनुभव होगा, दुःखका अनुभव नहीं होगा; हम शोकमें ही रात-दिन रहते हैं, तो प्रसन्नताका हमें अनुभव नहीं होगा। परंतु ऐसा है नहीं। अनुकूलता-प्रतिकूलताको लेकर ठीक और बेठीक—दोनोंका ज्ञान हमें होता है, तो वास्तवमें हम ठीक-बेठीकसे ऊँचे हैं। इस निर्द्वन्द्वतामें हम स्थित हो जायँ तो सुगमतासे मुक्त हो जायँ—**'निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते'** (गीता ५ । ३)। वास्तवमें तो मुक्त ही हैं, पर द्वन्द्वोंको अपना मान करके हम फँस जाते हैं—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७ । २७)

इच्छा (राग) और द्वेष, हर्ष और शोक—इन द्वन्द्वमोहसे मोहित होकर इनसे परे उस परमात्माको नहीं जानते। **'सर्गे यान्ति'**का मतलब—आरम्भमें ही

यह जीव मोहको प्राप्त हो जाता है और बार-बार जन्मता-मरता रहता है। बदलनेवालेमें न स्थित होकर अपने स्वरूपमें, जो कि सम्पूर्णको जानता है, स्थित हो जायँ और जाननेमें आनेवाली तथा बदलनेवाली वस्तुके साथ न बदलें अर्थात् उसके साथ अपनी एकता न मानें, तो हमारी स्थिति स्वतः स्वरूपमें है। स्वतः स्वरूपमें स्थितिका नाम है—जीवन्मुक्ति। पर स्वतः रहनेवालेके साथ न रहकर बदलनेवालेके साथ मिल जाते हैं, इसका नाम है—बन्धन। बन्धनको हम जब चाहें तब छोड़ दें और जब चाहें तब पकड़ लें। इसमें हम पराधीन नहीं हैं, स्वाधीन हैं। बन्धन पकड़कर बन्धनमें कभी स्थित रह नहीं सकते और स्वरूपसे विमुख होकर स्वरूपसे अलग कभी रह नहीं सकते; क्योंकि बन्धन तो मिटते रहते हैं, हम नये-नये पकड़ते रहते हैं और हमारा जो स्वरूप है, वह ज्यों-का-त्यों ही रहता है, कभी बदलता नहीं। स्वरूपमें हमारी स्थिति स्वतःसिद्ध है। स्वतःसिद्ध स्थितिका आदर न करके परतः स्थितिका, जो बदलती रहती है, आदर करते हैं—महत्त्व देते हैं; इसीसे जन्म-मरणमें भटकते हैं और दुःख पाते हैं।

जब हम बदलनेवालेके साथ न रहकर, जो सम्पूर्ण बदलनेवालेको जानता है, उसमें स्थित हो जायँ, तो हम अभी मुक्त हैं। मुक्तिके लिये भविष्य नहीं होगा। अमुक चीज नहीं है, अमुक अवस्था नहीं है, अमुक परिस्थिति नहीं है, तो वह समय पाकर होगी। परन्तु यह समय पाकर नहीं होगा। यह समयसे अतीत है और सब समयमें है, किसी देशमें नहीं है और सम्पूर्ण देशोंमें है, किसी वस्तुमें नहीं है और सम्पूर्ण वस्तुओंमें है। देश, काल, वस्तु, व्यक्तिसे सर्वथा अतीत होते हुए भी सबमें परिपूर्ण है। उसमें स्थित होना स्वरूपमें स्थित होना है।

वृत्तियाँ तो बदलती रहती हैं। ज्ञानीकी भी वृत्तियाँ बदलती हैं—**'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव'** (गीता १४। २२) अर्थात् तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषमें भी प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहकी वृत्तियाँ होती हैं। वृत्तियाँ तो बदलती रहती हैं। बदलना इनका स्वभाव है और न बदलना हमारा स्वभाव है। उस स्वरूपमें हम स्वतः-स्वाभाविक स्थित हैं। केवल प्रकृतिमें स्थित नहीं होना है।

अब कोई प्रश्न करे कि यह बात समझमें तो आती है, पर टिकती नहीं। तो उसका उत्तर यह है कि वास्तवमें यह बात मिटती ही नहीं, प्रत्युत निरन्तर रहती है; क्योंकि यह बात टिकती नहीं—इसे तो हम जानते ही हैं। 'टिकती नहीं' यह प्रकृति है और 'जानते हैं' यह स्वरूप है। प्रकृतिके साथ मिलें नहीं, इतनी ही बात है। वह तो मिटती ही है और स्वरूप टिकता ही है।

यह टिकती नहीं—इसे जाननेवाला भी मिटता है क्या? यदि मिटता है तो जानता कौन है? मिटनेको जाननेवाला न रहे, तो मिटनेको जानेगा कौन? प्रकृति परिवर्तनशील है। वह तो बदलेगी ही। जाग्रत् होगा, स्वप्न होगा, सुषुप्ति होगी, ठीक होगा, बेठीक होगा, अनुकूल होगा, प्रतिकूल होगा—यह तो सदा ही होगा। पर इसे जाननेवालेमें क्या फर्क पड़ा? हम बदलनेवालेमें स्थित न हों; बदलनेवालेकी परवाह न करें। हम अपने स्वरूपमें ही स्थित रहें। अपने स्वरूपकी परवाह करनी है, उससे च्युत नहीं होना है। यह निश्चय हम पक्का रखें। फिर इसमें गलती नहीं होगी। इसपर जितना टिक जायँ, उतना ही लाभ होगा।

*

शरणागति-रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीजगन्नाथानन्दजी महाराज)

दर्पणान्तर्गत प्रतिविम्बको हम माला, तिलक, वस्त्रादिसे विभूषित करना चाहते हैं; किंतु कर नहीं पाते। भाव यह है कि हमारी दृष्टि बाहरकी तरफ देखती है। यदि हमारी दृष्टि संसारसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाय तथा अपने-आपको देखने लग जाय, अपनेको तिलक आदिसे अलंकृत करने लग जाय तब तो शीघ्र ही दर्पणस्थ प्रतिबिम्ब अलंकृत हो जाय, अन्यथा जन्म-जन्मान्तर प्रयत्न करनेपर भी व्यक्ति अपने प्रतिबिम्बको मण्डित नहीं कर सकता है। प्रह्लादकी भी यही प्रार्थना है। वे कहते हैं—'जीव प्रतिबिम्ब है, ईश्वर परमात्मा भगवान् ब्रह्मादि-शब्दवाच्य बिम्ब है। जब व्यक्ति अपने बिम्बको, अपनी बुद्धि-चित्तादिको, क्रियाओंको तथा अपने-आपको समर्पित करता है तब प्रतिबिम्ब स्वरूप स्वयंको ही प्राप्त करता है'—

'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः।'

(श्रीमद्भा० ७। ९। ११)

जब जीव भगवान्की कायाकी छाया बन जाता है तब भगवान् भी भक्तकी कायाकी छाया बन जाते हैं। भगवान्के अधीन जब हमारी स्थिति, गति, प्रवृत्ति हो जाती है तब भगवान्की स्थिति भी हमारी स्थिति, गति, प्रवृत्तिके अधीन हो जाती है। जब भक्त भगवान्को छोड़कर संसारको जानने लगता है तब भगवान् भी उसे छोड़ देते हैं। जब भक्त भगवान्को पकड़कर संसारको भूल जाता है तब भगवान् भी अनन्त ब्रह्माण्डोंको छोड़कर केवल भक्तको ही जानते हैं—**'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'** (गीता)।

स्वयं भगवान् श्रीमुखसे कहते हैं—

ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

(श्रीमद्भा० ९। ४। ६५)

जो अपनी स्त्री, गृह, पुत्र, विश्वासी,—गुरुजन, सखा-मित्रादि सबको छोड़कर यहाँतक कि अपने प्राणोंका भी मोह छोड़कर मेरी शरणमें आता है, मैं उसको एक क्षणभर नहीं छोड़ सकता हूँ—**'मद‍्‌ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि।'** श्रीमर्यादापुरुषोत्तम राम असंख्य वानरोंके सामने तथा देवोंके सामने विभीषणका उद्देश्य करके अपने सहज पवित्र कल्याणकारी स्वभावका वर्णन करते हैं—'देखो विभीषण! मनुष्यका स्वभाव है अपराध करना, मेरा स्वभाव है अपराध क्षमा करना, किंतु जब रोगी वैद्यके पास आवे तब न; रोगी वैद्यके पास आता ही नहीं है, तब वैद्यका दोष ही क्या है? यदि रोगी आ जाय तथा उसका रोग न जाय तब दोष वैद्यका समझना चाहिये। रोग ही असाध्य है, क्योंकि मृत्यु-रोगकी किसीके पास भी दवा नहीं है। फिर भी मैं तो कर्तुं, अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ वैद्य हूँ—ऐसा सभी वेदशास्त्र कहते हैं।

किसीने भगवान्पर एक शंका की कि महाराज! आपको खोटे तथा खरेकी पहचान नहीं है। साध्य रोगकी ही दवा आपद्वारा की जा सकती है, असाध्य रोगकी नहीं; यह रोग तो स्पर्श करनेसे भी बढ़ता है अर्थात् हमलोगोंको रोगी बनायेगा। कहनेका अभिप्राय यह था कि यह राक्षस है न जाने किस कारणसे यहाँपर आया है। इसे बाँधना ही उचित है। भगवान्को हँसी आ गयी तथा वे हनुमन्तलालजीकी ओर देखने लगे। श्रीहनुमान्जी भगवान्की बात समझ गये तथा कहने लगे कि प्रभो! यह बतलाइये कि आपका

दरबार न्यायालय है या औषधालय ? यदि न्यायालय हैं तब तो कोई भी व्यक्ति मुक्त नहीं हो सकता है; क्योंकि कुछ-न-कुछ सभीसे अपराध बनता ही है—**'न कश्चिन्नापराध्यति'** (वाल्मी० रा० ६ । ११९), यदि आपका दरबार औषधालय है, तब प्रभो ! यह प्रश्न नहीं होता कि तुम अच्छे हो। यदि वह नीरोग होता तो आपके पास आता ही नहीं। क्यों है न ? भगवान् श्रीरामने कहा कि 'आपका तात्पर्य क्या है ?' 'बस प्रभो ! तात्पर्य यही है कि आपसे बढ़कर कोई वैद्य नहीं, जीवसे बढ़कर कोई रोगी नहीं'। 'तब आपका अभिप्राय' ? 'बस अनाथनाथ ! इस रोगी विभीषणको औषधालयमें भरती किया जाय और साथ ही प्रभो ! आपकी औषधका व्याख्यान भी हो जाय।' भगवान् राम हँस पड़े तथा अपनी दवाका वर्णन करने लगे—

जौं नर होइ चराचर द्रोही। आवै सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
(गीता ९ । ३०)

'यदि कोई अतिशय बुरे आचरणवाला मनुष्य भी अनन्यभावसे युक्त मुझ- (परमेश्वर-) को भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये, अर्थात् उसे यथार्थ आचरण करनेवाला ही समझना चाहिये; क्योंकि वह यथार्थ निश्चय युक्त हो चुका है—उत्तम निश्चयवाला हो गया है।'

यह तो हुई दवा, अब आगे श्रीराम पथ्यका निरूपण करते हैं—

जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥
सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥
समदरसी इच्छा कछु नाहीं। हरष सोक भय नहिं मन माहीं॥
अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदयँ बसइ धनु जैसें॥

कहनेका अभिप्राय क्या ? प्रथम तो भक्त अपनी चित्तवृत्तिकी स्थिति, गति, प्रवृत्तिको भगवान्‌के अधीन करता है, भगवान्‌को अपने मनमें बसाता है; उसके बाद भगवान् उस भक्तको अपने मनमें बसाते हैं; साधारण रूपसे नहीं—**'लोभी हृदय बसइ धनु जैसे।'**

यहाँतक तो दोनोंका व्यवहार सम दिखायी देता है, किंतु आगे बढ़ जानेपर भक्तका अधिकार बढ़ जाता है। भगवान्‌का अधिकार छोटा हो जाता है। भगवान् ऋणी होते हैं, भक्त ऋणदाता होता है। अतः **'भक्ताय मोक्षं धारयते हरिः'** भक्तके लिये हरि मोक्ष धारण करते हैं। जो कर्जा देता है, वह उत्तमर्ण कहलाता है, जो कर्जा लेता है, वह अधमर्ण कहलाता है। भगवान् भक्तसे कहते हैं कि तुम मोक्ष स्वीकार कर लो, तब भक्त मना करता है—**'न परिलसन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते'** (भागवत-वेदस्तुति) हे प्रभो ! आप मेरा मोक्षरूपी धन रक्खे रहें तो मेरा व्याज और बढ़ता ही रहेगा, नहीं तो आप मुझसे भक्तका कर्जा चुका कर उऋण हो जायँगे; तब मैं खतरेमें भी पड़ सकता हूँ। जब मेरा आपके पास कर्जा बना रहेगा तो कभी-न-कभी आप बुलायेंगे ही कि तुम अपना कर्जा ले लो। इस प्रकार आपका तथा मेरा सम्बन्ध बना रहेगा।' भगवान्‌ने अपने भक्तोंसे कहा—'हे भक्तो ! तुम अपना-अपना भार ले लो, मैं अब दबा ही जा रहा हूँ।' भक्तोंने कहा कि अच्छा ठीक, दीजिये हमारा कर्जा। भगवान् देने लगे, भक्त लेने लगे। भगवान् देते-देते परेशान हो गये तथा कहने लगे—'अरी व्रजाङ्गनाओ ! मैं तुम्हारा कर्जा नहीं दे सकता; क्योंकि तुम लोगोंने तो सब कुछ त्यागकर मुझे भजा है। मैंने तो सब कुछ रखकर तुम्हें भजा है। तुम सबोंने तो अपने माँ-बाप-बन्धु-पिता-पति, आर्यपथादिको छोड़ा है, मैंने तो किसीको भी नहीं छोड़ा है, अतः मैं तो जन्म-जन्मान्तरमें भी तुम्हारा ऋणी होना ही अच्छा समझता हूँ—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

अर्थात्—'देवताओंकी आयु भी रखकर या लेकर मैं तुम्हारे शुभकृत्योंका प्रति-उपकार नहीं कर सकता हूँ।' ठीक इसी प्रकार भगवान् श्रीराम भी पवनपुत्र श्रीहनुमन्तलालके सामने एक बात कह रहे हैं कि श्रीहनुमान्जी! आप एक बही-खाता ले आओ। उन्होंने कहा—'प्रभो! उसका यहाँपर क्या होगा? यहाँपर भी भक्तोंके दोषोंकी लिखा-पढ़ी होनेवाली है क्या?' श्रीराम बोले—'नहीं।' 'प्रभो! तब क्या?' 'आप मुझसे यह लिखवा लो कि राम मेरा सदाके लिये ऋणी है'—

सुन सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं॥

एकैकस्योपकाराणां प्राणान् दास्यामि ते कपे।
शेषस्योपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

अर्थात्—'हे कपे! मैं अनेक जन्मोंमें भी एक-एक उपकारका बदला चुकाने लगूँ, तब भी मैं आपके उपकारसे मुक्त नहीं हो सकूँगा। अन्ततोगत्वा मुझको ऋणी रहना ही पड़ेगा, इसलिये आज तुम मुझसे लिखवा लो।'

इतना कहकर श्रीराम हनुमान्जीकी ओर देखने लगे तथा रोमाञ्चित होकर अश्रुपात करने लगे। यह दृश्य बड़ा ही अनोखा है। बड़े-बड़े आत्माराम, निष्काम स्व-परभेद-विवर्जित महात्मागण कन्दराओंमें जाकर भगवान्के चरणोंका ध्यान करते हैं—**यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते**। दूसरी तरफ समस्त वानर भी भगवान्की ओर दृष्टि लगाये हुए हैं, किंतु आज भगवान् भक्तके अधीन होकर अपनी स्थिति-गति-प्रवृत्ति उसके अधीन करके देख रहे हैं; नीरस आँखोंसे नहीं, कठोर अन्तःकरणसे नहीं, अपितु द्रवितान्तःकरणसे देख रहे हैं—

पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलकि अति गाता॥

बस, यही तो जीव चाहता है कि प्रभो! मुझे एक बार देखें।

कविचक्रचूड़ामणि श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं—

तू गरीब को नेवाज हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपाल, तुलसिदास मेरो॥

यहाँपर तो मेरा कहनेकी बात नहीं, प्रभु हनुमान्के प्रति स्वयं भिखारी बने हुए हैं। कुछ कह नहीं पा रहे हैं, कुछ मनसे कहना चाहते हैं, किंतु आज मन भी सम्मुख होनेमें संकोच करता है—'**सन्मुख होइ न सकत मन मोरा।**' हनुमान्ने देखा कि आज मेरे अनाथनाथ संकोचमें पड़ गये हैं। आज तो मैं ही सर्वश्रेष्ठ हो गया हूँ। लोग क्या कहेंगे? स्वामी संकोचमें हैं। 'नहीं-नहीं नाथ! आप ऐसा मत सोचिये, मत कहिये, आपका मैं तो दास हूँ। आप मेरे स्वामी हैं, यह आप क्या कह रहे हैं। यह आपको शोभा नहीं देता है।' ऐसा कहकर श्रीहनुमन्तलाल चरणोंमें गिर पड़े—

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत॥

बार बार प्रभु चहइ उठावा। प्रेम मगन तेहि उठब न भावा॥
प्रभु कर पंकज कपि कें सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा॥
(मानस ५। ३२। १)

प्रभु बारबार उन्हें उठाना चाहते हैं, किंतु भक्त क्या सोचता है कि **जिन्ह चरननकी पादुका भरत रहे मन लाइ'''**, भगवान् शिव जिन्ह चरणोंका ध्यान ही कर पाते हैं, श्रीकिशोरीजी केवल अशोकवाटिकामें ध्यान ही कर रही हैं; औरकी तो चर्चा ही क्या, आज मेरा माथा-सिर भगवान्के उन्हीं चरणोंमें पड़ा हुआ है तथा सिरके ऊपर भगवान्का करकमल भ्रमित हो रहा है; यह सौभाग्य किसको है? यह सोचकर हनुमन्तलाल आनन्द-सुधा-सिन्धुमें निमग्न हो गये। जब इस दशाका ध्यानमात्र शंकरने किया तो वे भी कथा छोड़कर निमग्न हो गये।

श्रीमद्भागवतके उद्देश्य और उसकी महिमा

(पूज्य श्रीडोंगरेजी महाराजके काशी-(ज्ञानवापी-प्राङ्गण) में हुए प्रवचनका सारांश)

[गताङ्क ५, पृष्ठ-संख्या ५७८ से आगे]

भागवत मक्खन है। दूसरे शास्त्र दूध-दही-जैसे हैं। सारे शास्त्रोंमें साररूप यह श्रीकृष्णकथा है। शौनकजी कहते हैं—'ज्ञान और वैराग्यके साथ भक्ति बढ़े, ऐसी सारभूत कथा सुनाइये। ऐसा सारतत्त्व सुनायें कि जिससे हम भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन करें।' ज्ञान-वैराग्यके साथ भक्ति बढ़ानेके लिये यह कथा है। कथा रोनेके लिये होती है। महान् भक्तोंके, महान् पुरुषोंके चरित्र सुनकर हमें भान होता है कि ओह! मैंने अपनी आत्माके उद्धारार्थ तो कुछ किया ही नहीं है।

कथा सुननेके बाद अपने पापोंके लिये पश्चात्ताप हो और प्रभुके प्रति अपने हृदयमें प्रेम जगे तभी कथा-श्रवण सार्थक होता है। संसारके विषयोंके प्रति यदि वैराग्य न हो और प्रभुके प्रति प्रेम न जागे तो ऐसी कथा कथा ही नहीं है। ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है—'बेटा, कथा ऐसी कर कि जिससे लोगोंमें मेरे प्रभुके प्रति भक्ति जागे। कथा मनुष्यके जीवनको सुधारती है, जीवनका परिवर्तन करती है। कथा मनुष्यके जीवनमें क्रान्ति करती है। कथा सुनकर भी यदि जीवनमें कुछ परिवर्तन न हो तो मानो कि हमने कथा सुनी ही नहीं है। शौनक मुनिने इसीलिये प्रार्थना की है कि 'मेरा ज्ञान बढ़े, मेरी भक्ति बढ़े—ऐसी कथा करें।' 'अकेली भक्ति बढ़े' ऐसा नहीं कहा है। भक्ति ज्ञान और वैराग्यके साथ-साथ बढ़े।

हलवेमें लौकिक दृष्टिसे गेहूँकी कीमत कुछ अधिक नहीं है। किंतु आटेके बिना हलवा बन नहीं सकता। तत्त्वकी दृष्टिसे विचार करें तो आटेकी कीमत भी घी-जितनी ही है। हलवा बनानेमें घी, गुड़ और आटेकी जरूरत एक-सी है। इसी प्रकार ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी जरूरत एक समान ही है। जीवनमें इन तीनोंकी जरूरत है। सोलह आने ज्ञान और वैराग्य आये तभी जीवका जीवभाव जाता है। जिसमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य परिपूर्ण हो, वही उत्तम वक्ता है।

अनेक ऋषि-मुनि वहाँ गङ्गाके किनारे बैठे थे; परंतु कथा कहनेको कोई तैयार नहीं हुआ तो भगवान्‌ने श्रीशुकदेवजीको प्रेरणा दी कि वहाँ जाओ। श्रीशुकदेवजीमें ज्ञान, भक्ति और वैराग्य परिपूर्ण हैं।

भागवतशास्त्र प्रेमका शास्त्र है। प्रेम तो पाँचवाँ पुरुषार्थ है। श्रीकृष्ण-प्रेममें देह-भान भूले तो मानो कि प्रेम सिद्ध हुआ। परमात्मा प्रेमको ही अपना स्वरूप कहते हैं।

ज्ञानमार्गमें प्राप्तकी प्राप्ति है। ज्ञानमार्गमें जो प्राप्त है, उसीका अनुभव करना है। भक्तिमार्गमें भक्तिद्वारा भेदका विनाश करना है। भक्तिमार्गमें भेदका विनाश है। ज्ञानमार्गमें भेदका निषेध है। ज्ञानमार्गमें ज्ञानसे भेदका निषेध किया गया है। ज्ञान और भक्ति दोनों मार्गोंका लक्ष्य एक ही है। किसी एकको पकड़कर चलो, कल्याण हो जायेगा। पर भक्तिमार्ग सुगम है। जो चाहो, चुन लो।

सूतजी कहते हैं—आप सब ज्ञानी हैं। परंतु लोगोंपर उपकार करनेके लिये आप प्रश्न पूछते हैं तो कृपया सावधान होकर कथा सुनिये। पूर्वजन्मोंके पुण्यका उदय होता है तभी इस पवित्र कथाके सुननेका योग मिलता है।

कलियुगके जीवोंको कालरूपी सर्पके मुखसे छुड़ानेके लिये श्रीशुकदेवजीने श्रीभागवतकी कथा कही है। जिस समय श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित्‌को यह कथा सुना रहे थे तो उस समय अमृत लेकर स्वर्गके देवतागण वहाँ आये। उन्होंने कहा—स्वर्गका यह अमृत हम राजाको देते हैं और बदलेमें यह कथामृत आप हमें दीजिये। शुकदेवजीने परीक्षित्‌से पूछा कि यह कथामृत पीना है या स्वर्गका अमृत ? तो परीक्षित्‌जीने श्रीशुकदेवजीसे पूछा कि स्वर्गका अमृत पीनेसे क्या लाभ होता है ? श्रीशुकदेवजीने कहा—स्वर्गका अमृत पीनेसे स्वर्गके सुख मिलते हैं। परंतु स्वर्गका अमृत दुःखमिश्रित है। स्वर्गका अमृत पीनेसे पुण्योंका क्षय होता है, परंतु पापोंका क्षय नहीं होता है। कथामृतके पानसे पापोंका नाश होता है। कथामृतसे भोगवासनाका विनाश होता है अतः स्वर्गके अमृतसे यह कथामृत श्रेष्ठ है।

सनत्कुमार ब्रह्मलोकमें रहते थे। एक बार वे भी कथाका आनन्द लेने भारतमें आये। इससे लगता है कि

ब्रह्मलोकमें भी इस कथाके आनन्द-जैसा कोई आनन्द नहीं है। तब राजा परीक्षित्‌ने कहा—भगवन्! मुझे यह स्वर्गका अमृत नहीं पीना है। मैं तो इस कथामृतका ही पान करूँगा।

सात ही दिनोंमें ज्ञान और वैराग्यको जाग्रत् करनेके लिये यह कथा है। ज्ञान और वैराग्य अपने अंदर ही हैं परंतु वे सोये हुए हैं। उन्हें जाग्रत् करना है। कथा आती है कि ज्ञान और वैराग्यको मूर्च्छा आयी हुई है। सात दिनमें ही इस ज्ञान और वैराग्यको जाग्रत् करके भक्तिरस उत्पन्न करना है। इसके लिये यह कथा है। ऐसा और कोई ग्रन्थ नहीं है कि जो सात ही दिनोंमें मुक्ति दिलाये। सात दिनोंमें मुक्ति दिलानेवाला यह भगवत्-शास्त्र (भागवत) है।

सूतजी कहते हैं कि सात ही दिनोंमें परीक्षित्‌जीको जिस कथासे मुक्ति मिली थी वही कथा आपको सुनाता हूँ। सात दिनोंमें ही परीक्षित्‌को मुक्ति मिली; कारण, उनके लिये यह निश्चित था कि ठीक सातवें ही दिन उनका काल आनेवाला है। परंतु हम तो कालको भूल जाते हैं और हमारे लिये काल कब आयेगा, यह निश्चित नहीं है। काल कल आ सकता है, आज आ सकता है, अभी आ सकता है।

वक्ता श्रीशुकदेवजी-जैसा अवधूत हो और श्रोता परीक्षित्‌जी-जैसा अधिकारी हो तो सात दिनमें मुक्ति मिल सकती है। वक्ता और श्रोता दोनों अधिकारी होने चाहिये। विद्युत्‌का प्रवाह और गोला (बल्ब) दोनों ठीक होने चाहिये। वक्ता और श्रोता दोनों ही अधिकारी हों तभी यह कथा मुक्ति दिलाती है। कथा सुनी तो परीक्षित्‌को लिवा जानेके लिये विमान आया। परीक्षित् महाराज विमानमें बैठकर श्रीपरमात्माके धाममें गये। उनको सद्‌गति मिली। आजकल लोग कथा तो बहुत सुनते हैं, परंतु उनको लेनेके लिये विमान क्यों नहीं आते? इसका कारण यही है कि वक्ता और श्रोता अधिकारी नहीं मिलते हैं। मनुष्य जबतक वासनाओंमें फँसा है तबतक विमान कैसे आयेंगे और यदि आ भी जायँ तो भी उनपर कोई बैठेगा ही नहीं। कदाचित् लेनेके लिये स्वर्गसे विमान आ भी जाये तो भी मनुष्यकी जानेकी तैयारी भी कहाँ है? हम सब विकार और वासनाओंमें बँधे हुए हैं। मनुष्य पत्नी, पुत्र, धन, घर आदिमें फँसा है। जबतक यह आसक्ति छूटेगी नहीं, तबतक मुक्ति नहीं है। जिसका मन परमात्माके रंगमें रँग गया है उसके लिये तो वह जहाँ बैठा है वहीं मुक्ति है। ऐसोंके लिये तो विमान आये तो क्या और न आये तो क्या? ईश्वरके साथ तन्मयता हो जाये उसीमें ही आनन्द मिलता है। उससे बढ़कर आनन्द तो वैकुण्ठमें भी नहीं है।

भक्त तुकारामको लेने विमान आया तो तुकारामने अपनी पत्नीसे कहा कि 'इस जीवनमें तो मैं तुम्हें सुख न दे सका, परंतु परमात्माने हमारे लिये विमान भेजा है तो चलो, तुम्हें विमानमें बिठाकर परमात्माके धाममें ले चलूँ। आओ, मेरे साथ चलो।' परंतु पत्नी नहीं मानी। उसने कहा कि महाराज! आपको जाना हो तो जाइये। मुझे जगत्‌को छोड़कर स्वर्गमें नहीं जाना है, और वह नहीं गयीं।

संसारका मोह छोड़ना बड़ा कठिन है। जबतक वासनापर अंकुश न हो जाय तबतक शान्ति नहीं मिल सकती। कथाका एकाध सिद्धान्त भी यदि दिलमें उतर जाये तो जीवन मधुर बन जाये। वासनाएँ बढ़ती हैं, भोग बढ़ते हैं, इसीसे संसार कटु—विष बन जाता है। जबतक वासनाएँ क्षीण नहीं होतीं तबतक मुक्ति नहीं मिल सकती। पूर्वजन्मका शरीर तो चला जाता है परंतु पूर्वजन्मका मन नहीं जाता। लोग अपने तनकी, कपड़ोंकी खूब चिंता रखते हैं, परंतु मरनेके बाद भी जो साथ जाता है उस मनकी चिन्ता नहीं रखते हैं। मरनेके बाद जिसे साथ जाना है, उसीका फिक्र करो। धन-शरीरादिकी चिन्ता मत करो। मरनेके बाद तो जो अँगूठी तुम्हारी अँगुलीमें होगी वह भी लोग निकाल लेंगे।

विवेकसे जबतक संसारका अन्त न आये तबतक संसारका अन्त आनेवाला नहीं है। जीवनमें संयम और सदाचार जबतक न आये तबतक पुस्तकोंसे मिला ज्ञान किसी काम नहीं आये। कोरा ज्ञान भी किस कामका?

आचार-विचारके बिना मनकी शुद्धि नहीं होती। जबतक मनकी शुद्धि न हो, तबतक भक्ति नहीं हो सकती। ज्ञान और वैराग्यको दृढ़ करनेके लिये यह भागवतकी कथा है।

एक गृहस्थके पुत्रका अवसान हुआ। गृहस्थ रोता है। उसके घर कोई ज्ञानी साधु आता है और उपदेश करता है—'आत्मा अमर है, मरण शरीरका होता है, अतः तुम्हें पुत्रकी मृत्युका शोक करना उचित नहीं है।' कुछ समयके बाद उस साधुकी बकरी मर गयी और वह रोने लगा। साधुको रोता देखकर उस गृहस्थने साधुसे पूछा कि महाराज! आप तो मुझे उपदेश देते थे कि किसीकी मृत्युपर शोक

नहीं करते। फिर आप किसलिये रुदन कर रहे हैं ? साधुने कहा कि बालक तुम्हारा था पर बकरी तो मेरी थी, अतः रोता हूँ । ऐसो 'परोपदेशे पाण्डित्यम्' किस कामका ! उपदेशकमें विशुद्ध आचरण भी होना चाहिये ।

ज्ञानका अनुभव करो, मुक्त होनेके लिये ज्ञानका उपयोग है। कथा जीवनको सुधारती है। जीवनको पलट देती है। कथा सुननेपर जीवन पलट न जाये तो मानो कि कथा बराबर सुनी ही नहीं है। कथा मुक्ति देती है, यह बात बिलकुल सच है। कथा स्वयं अमृत है।

रोज मृत्युको एक-दो बार याद करते रहो। 'शायद आज ही मुझे यमदूत पकड़ने आ जायें तो मेरी क्या दशा होगी ?' यदि ऐसा आप रोज सोचेंगे तो पाप नहीं होगा। मनुष्य मरणका विचार तो रोज नहीं करता, भोजनका विचार रोज करता है । पर कल्याण चाहते हो तो दो बातोंको न भूलो—'नारायण एक मौतको दूजो श्रीभगवान्।'

इस भागवत शास्त्रकी महिमाका वर्णन दूसरे बहुत-से पुराणोंमें किया गया है। सामान्यतः पद्मपुराणके अन्तर्गत माहात्म्यका वर्णन करते हैं। अब श्रीभागवतकी महिमाका वर्णन करना है। इस श्रीभागवतकी कथाका माहात्म्य एक बार सनत्कुमारोंने श्रीनारदजीको सुनाया था । माहात्म्यमें ऐसा लिखा है कि बड़े-बड़े ऋषि और देवता ब्रह्मलोक छोड़कर इस कथाको सुननेके लिये विशाला क्षेत्रमें आये थे। इस कथामें जो आनन्द मिलता है वह ब्रह्मानन्दसे भी श्रेष्ठ है।

बदरिकाश्रममें सनत्कुमार पधारे हैं। जिसे लोग बदरिकाश्रम कहते हैं, वही विशाला क्षेत्र है।

भक्तिका प्रतीक—अभिवादन

(लेखक—श्रीहरिहरनाथजी चतुर्वेदी)

अभिवादन शिष्टाचारका प्रथम लक्षण है। इसमें हम अपने छोटेपन और अभिवन्दित व्यक्तिके दर्शनको शुभ और सुखदायी ही नहीं, वरन् उसके महत्त्वको स्वीकार करते हुए अपना आदर प्रदर्शित करते हैं। यह मानवीय शिष्टाचारकी प्रथम बारहखड़ी है, जिसमें अपने कल्याणके लिये आशीर्वादरूपी प्रसादकी कामना निहित है।

अधिक-से-अधिक अपनी विनय और सामनेवालेके प्रति अधिक-से-अधिक आदर प्रगट करना उत्तम अभिवादन है । हम अपने लघुत्वको स्वीकार कर जब सामनेवाले व्यक्तिकी आयु, पद अथवा गुणोंके महत्त्वको स्वीकार करते हैं तो हमारा मस्तक ही नहीं, वरन् हृदय भी स्वयं ही झुक जाता है । विश्वमें भगवान्को देख श्रद्धापूर्वक नमन बड़े महत्त्वका है—

जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम मय जानि।
बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥

(मानस १ । ७ ग)

गोस्वामीजी भगवान्‌रामको सबमें व्याप्त देखते हैं और इस कारण वे सबके चरणकमलोंकी वन्दना करते हैं। उनके प्रभुका व्यापक रूप मनुष्यमात्रमें ही नहीं, प्राणिमात्रमें भी नहीं, वरन् जड़चेतनमय प्रकृतिमें निहित है। पृथ्वीपर ही सीमित नहीं है, वरन् उसके अतिरिक्त नभ और जलमें भी है—

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥

(मानस १ । ८ । १)

अपनी अनुभूतिके साथ अपने आराध्यको सदा सर्वत्र अणु-अणुमें व्याप्त देखकर उनकी असीमताका सर्वोच्च आभास भक्तिका सर्वश्रेष्ठ आयाम है।

हिरण्यकशिपु अपनी शक्ति और उससे अधिक प्राप्त वरदानोंकी शक्तिसे मदान्ध हो रहा था। वह तलवार लिये अपने पुत्र भक्त प्रह्लादसे पूछता है कि 'तेरा राम, जिसे तू सदा जपता है, वह कहाँ है ?' प्रह्लादका उत्तर बड़ा साधारण था कि—'मैं और तू ही नहीं, वरन्

इस तलवार और खम्भमें भी प्रभु व्याप्त है।' अहंकारका मद इसे कब स्वीकार करनेको तैयार था। चटसे तलवारद्वारा उस खम्भेपर प्रहार किया गया, जिसमेंसे ही नरसिंह भगवान् प्रकट हुए और उन्हींसे उसका अन्त भी हुआ। ऐसे उदाहरणोंसे हमारा इतिहास भरा पड़ा है।

रावण भगवान् शंकरका भक्त है और भगवान् शंकरने भी उसे अनेक वरदानोंसे 'ठूँस' कर सब प्रकारकी शंका और भयसे मुक्त निरङ्कुश बना दिया है, जिस शक्ति एवं जिन वरदानोंका वह खुला दुरुपयोग करता है। अपने बलके प्रदर्शनमें उसने भगवान् शंकरको उनके वास कैलाससहित उठा लिया था। यह उसका अहंकारपूर्ण अभिवादन था, परंतु इसके विपरीत भरतजी अपने बड़े भ्राता भगवान् रामसे मिलने चित्रकूट जाते हैं तो वे किस प्रकार अभिवादन करते हैं—

सानुज सखा समेत मगन मन। बिसरे हरष सोक सुख दुख गन॥
पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं॥

'पाहि माम्, पाहि माम्' कहते हुए निर्जीव लकड़ीकी तरह जमीनपर गिर पड़े। भगवान् रामने जब यह देखा तो—

'उठे राम सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥'

भगवान् क्षत्रिय-कुलभूषण हैं, जिन्होंने कभी अपने धनुष-बाण-जैसे आयुधको फेंक कर निरादर नहीं किया है; परंतु सामने पड़े भक्त भाईके अभिवादनको स्वीकार करनेके लिये वे अधीर थे, जिसकी तुलनामें उनके लिये कोई भी वस्तु नगण्य थी। फिर तो क्या था—

बरबस लिए उठाइ उर लाए कृपानिधान।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान॥

जमीनसे उठाया ही नहीं, हृदयसे चिपका लिया; जिसे देखकर सब भावबिचलित हो अपनी सुध-बुध ही भूल गये—

अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मनु बिधि हरि हर को॥

इस भावात्मक अभिवादनकी हर प्राणी तो क्या ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी कल्पना नहीं कर सकते। मुँहसे शब्द नहीं निकल रहे थे; क्योंकि हृदय तो भरा था और आँखोंसे प्रेम छलक रहा था।

भरतलालजी रामके अनुज ही नहीं, उससे भी बढ़कर उनके भक्त हैं—**'मोरे सरन रामहि की पनही।'** अपनी मातृतुल्या जानकीजीको भी तो उन्हें अभी अभिवादन करना है, तो—

सानुज भरत उमगि अनुरागा। धरि सिर सिय पद पदुम परागा॥
पुनि पुनि करत प्रनाम उठाए। सिर कर कमल परसि बैठाए॥

सारा वातावरण ही प्रेम-पुलकित, भावविभोर था। लोग विह्वलताके कारण बोलनेमें अशक्य हैं। साथमें गुरु वसिष्ठजी भी पधारे हैं। यह सूचनातक कोई नहीं दे पाया तो अपनेको धैर्यपूर्वक सँभालते हुए केवटने साहस करके यह भेद खोला है। सुनते ही बस क्या था—

चले सबेग राम तेहि काला। धीर धरम धुर दीन दयाला॥
गुरहिं देखि सानुज अनुरागे। दंड प्रनाम करन प्रभु लागे॥

और गुरुजीने अपने समक्ष आदरसे दण्डवत् करते हुए भगवान् रामको देखा, तो—

मुनिबर धाइ लिए उर लाई। प्रेम उमगि भेंटे दोउ भाई॥

राम और रावणमें कैसा विरोधाभास है। रावण गुरुको उठाता है और अन्तमें अपना पराभव देखता है। उधर गुरुजी **'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुनधामू॥'** को उठाकर ऊँचा करते हैं तो वह सर्वत्र विजयी होते हैं। यह सफल शक्तिवान्के सहज शीलका सर्वोच्च सम्मान है।

उपासक अपने उपास्यको ऊँचा-से-ऊँचा स्थान देता है। उसके गुण, साहस, रूप, लावण्य और शक्तिके बीच शीलकी सुनहली जगमगाती ज्योति सर्वाङ्ग

मङ्गलकामनाको जगमगा देती है। परंतु अपनेको वही सबसे अधम स्वीकार करता हुआ अपने लघुत्वके अनुभवमें उसे स्वयंमें गुणोंका अभाव-ही-अभाव नहीं, वरन् सब अवगुण ही दीखते हैं—

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो नमक हरामी॥

जिसे वह ढोल बजा-बजाकर सबको बताता है और दिखाता भी है। यह ही उसके हृदयका निर्मल आनन्द है।

उपास्यकी उज्ज्वल मङ्गल-कल्पना और स्वयंके अवगुणोंको उजागर करके निम्नतम स्थानपर रहना—इस ओर-छोरकी दूरीका अन्दर ही भक्तिकी गहरी अभिव्यक्ति है, जिससे ही उसकी गहनताका आभास होता है।

तू दयाल दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुंज हारी॥

उसकी आकाङ्क्षाकी इससे भी तुष्टि नहीं होती तो—

राम सों बड़ो है कौन, मो सौं कौन छोटो?
राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो?

—कहकर अपने आराध्यको सबसे बड़ा एवं सबसे खरा और स्वयंको सबसे छोटा एवं खोटा बताकर उसकी असीमता और अपनी निकृष्टताका बोध कराता है।

उपास्यसे उतरती भक्ति-भावना जब अपने माता-पिता-गुरु-स्वामी तथा अन्य बड़ोंके प्रति आचरणमें प्रकट होती है, तब यह भक्ति शिष्टाचारमें परिणत होती है, जिसका प्रथम आचरण अभिवादन है। इसकी प्रारम्भिक शिक्षा माता-पितासे प्राप्त होती है, जो मनुष्यकी प्रकृतिमें भक्तिके साथ शील और सात्त्विकताकी स्थापना करती है।

एक ओर भगवान् भूतनाथ रामके अनन्य भक्त हैं और महादेव होकर भी उन्हींके ध्यानमें सदैव लीन रहते हैं, जिसका माता भवानीको भी आश्चर्य है—

तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहुँ अनँग आराती॥

तो दूसरी ओर भगवान् भी शंकरजीके भक्त हैं। सतीको सामने देखते ही—

जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पिता समेत लीन्ह निज नामू॥

हाथ जोड़कर अपने पिताके नामसहित परिचय देते हुए पहले प्रणाम करते हैं। इतना ही नहीं, नल और नील द्वारा सेतुकी निर्माण सफलता और उसकी सुन्दर रचनाको देखकर स्थानकी उपयुक्तता समझते हुए कहते हैं—

करिहउँ इहाँ संभु थापना। मोरे हृदय परम कलपना॥
सुनि कपीस बहु दूत पठाए। मुनिबर सकल बोलि लै आए॥
लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। सिव समान प्रिय मोहि न दूजा॥
सिव द्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा॥
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी॥
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥

भगवान् शंकर और राम अपने-अपने स्थानपर दोनों ही बड़े हैं। परंतु एक दूसरेको आदर प्रदान करते हैं। अभिवादनशीलतामें शील शिक्षा और सौजन्यका समन्वय है। यह नरमें नारायणके दर्शन हैं। सीमामें असीमकी पूजा-प्रतिष्ठा है।

विराट्के युद्धके अवसरपर समस्त कौरवोंको खदेड़नेका निश्चय अर्जुनने किया था, यद्यपि तबतक वे अज्ञातवासमें ही थे। गुरु द्रोणाचार्यके चरणोंमें दो तीर जाकर गिरे। गुरु द्रोणको प्रतीत हो गया कि विपक्षमें अर्जुन है और दोनों छोड़े तीरोंके द्वारा चरणोंमें वीरोचित प्रणाम कर रहा है। इतनेमें कानके पास होकर दो तीर और निकले, जिससे उन्हें और विश्वास हो गया कि अर्जुन मेरा शिष्य प्रणाम ही नहीं, वरन् मेरा कुशल-भी पूछ रहा है।

अभिवादनके विविध विधान हैं। शासकोंको तोपोंसे या शस्त्रोंसे अथवा सेनाद्वारा अभिवादन किया जाता है। इस प्रकार अभिवादनके ढंग प्रत्येक अवसरपर

अलग-अलग होते हुए भी अपने समक्षवालेकी महत्ता और अपने लघुत्वकी अनुभूति तो सबमें समान है।

इस अन्तरकी सात्त्विक अनुभूति करानेवाली वृत्ति ही भक्ति है, जिसमें लघुत्व ही नहीं, वरन् दैन्यके साथ अन्य पक्षके सम्मान-प्रदर्शनमें भी आनन्दका अनुभव होता है। शीलवान्का स्वभाव ही सम्मानसूचक होता है—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥
(मनुस्मृति २। १२१)

'जो अभिवादनशील है और जो नित्य वृद्ध-जनोंकी सेवा करता है, उसकी आयु, विद्या, यश और बलमें सदैव वृद्धि होती रहती है।' मार्कण्डेयजीकी सातकल्पपर्यन्तकी आयु अभिवादनसे ही प्राप्त हुई है। भगवान् राम भी—

प्रातकाल उठि के रघुनाथा। मातु पिता गुरु नावहिं माथा॥

इस प्रकार अभिवादन करते थे और परिणामस्वरूप सबके आशीर्वाद प्राप्त करते थे, जिसकी शक्ति नहीं दीखते हुए भी अमोघ है।

ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मकी उपलब्धि

(लेखक—डॉ० श्रीसर्वानन्दजी पाठक, डी० लिट्०)

बृंह् धातुसे सिद्ध ब्रह्म अनन्त एवं विशाल तत्त्व है। बृंह् धातुका अर्थ बढ़ना है और तब इसका व्युत्पन्नार्थ होता है—**(बृंहति वर्धते—निरतिशयमहत्त्वलक्षण-वृद्धिमान् भवति)** अर्थात् निरन्तर वृद्धिशील तत्त्व। वृद्धिशीलताका अर्थ केवल विशालता या स्थूलतामें ही बढ़ना नहीं, अपितु ह्रस्वता या सूक्ष्मताकी ओर भी बढ़ना है। ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, कोई भी जगह या तत्त्व उससे खाली नहीं। वह महान्से महत्तम है तो वह सूक्ष्मसे सूक्ष्मतम भी है—सूक्ष्मतामें अणु-परमाणु ही नहीं, यदि परमाणुसे भी छोटा-सा कोई अंश सम्भव हो तो उसमें भी वह परिव्याप्त है। हम अपना रहस्यमय काम छिपाकर करते हैं और समझते हैं कि उसे कोई देख नहीं रहा है, पर परमात्मा तो अदृष्ट-रूपसे सर्वत्र दृष्टिपात करता है। उससे खाली कोई जगह नहीं या ऐसा कोई गुप्त स्थान नहीं, जहाँ उसकी दृष्टि न पहुँचती हो। वह समस्त विश्वव्यापारको देखता है—सब सूँघता है, रसको आस्वादित करता है, स्पर्श करता है तथा गुप्तातिगुप्त वाणीको सुनता है, वस्तुतः उससे कोई वस्तु अदृष्ट नहीं, अनाघ्रात नहीं अनास्वादित नहीं, अस्पृष्ट नहीं तथा कोई भी वाणी अश्रुत नहीं है। परंतु हम न तो उसे इस चक्षुसे देख सकते, न इस नासिकासे सूँघ सकते, न उसे इस रसनासे पी सकते और न उसे छू सकते तथा न उसकी आवाजको सुन ही सकते हैं। अपने अनुभवमें उसे ले आना बड़ा कठिन कार्य है।

सात्विक बुद्धि या प्रशिक्षित निर्विषय मन ही जीवको ब्रह्मतक पहुँचानेका प्रधान साधन है और यही मन यदि विषयासक्त हो तो जीवको अधम लोकमें भी ढकेल देता है और यही मन यदि निर्विषय हो तो मोक्षकी भी उपलब्धि करा सकता है। मन भी शरीरका ही एक सूक्ष्मतम भाग है और शरीर मनका स्थूल भाग है। दोनोंमें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। शरीरकी प्रतिक्रिया मनपर और मनकी प्रतिक्रिया शरीरपर होती है। शरीर और मन दोनों एक दूसरेसे सम्बद्ध हैं। राजयोग शरीर-की उपेक्षा करना नहीं सिखाता। शरीरकी दृढ़तापर ही मनकी दृढ़ता निर्भरित है। अतः राजयोगानुसार संयमित आहार-विहार, नियमित साधन तथा परिमित शयन-जागरण आदि मध्यम मार्गीय साधनोंके द्वारा शरीरको

सबल, मनको अचंचल रखनेसे ही साधनमें सिद्धि और सफलताका मिलना सम्भव है। चरम सिद्धिके लिये मानसिक एकाग्रता परम आवश्यक है। मनकी एकाग्रताके अतिरिक्त ब्रह्मोपलब्धिके लिये दूसरा साधन या रास्ता हो ही नहीं सकता। मानसिक एकाग्रताके अभावमें योग-साधनाकी दीवार कमजोर होकर गिर जाती है। बुद्धि, यद्यपि मनसे बड़ा तत्त्व है, पर वह परमतत्त्वके पास साधकको पहुँचानेमें असमर्थ है, वह आगेका रास्तामात्र बता सकती है। बुद्धिमें स्वयं परमतत्त्वके द्वारसे आगे बढ़नेकी शक्ति नहीं है। एकाग्र मन ही जीवात्माको प्रशिक्षित कर वहाँतक पहुँचानेका साहस कर सकता है, यदि वह पूरा निर्मल और निर्विषय तथा एकान्त हो गया है। इस विषयमें आप्त महापुरुषोंकी उक्ति है कि यदि पुरुष या स्त्रियाँ व्यवहारको शुद्ध और आहारको सात्त्विक बनाकर शरीरको ठीक रखें और विषयोंसे मनको हटाकर अन्तर्मुख करें तो उन्हें अपने भीतरके खजानेका पता चल सकता है। इसके अतिरिक्त इस दिशामें नैतिक आचरण भी परम प्रयोजनीय है। यह आचरण भगवत्प्राप्तिकी साधनामें सर्वोपरि है। नैतिक आचरणकी शुद्धिके लिये पतञ्जलिके प्रतिपादित यम-नियमोंका पालन सर्वोत्तम है। यम-नियमोंके अभावमें पाठ-पूजा, जप-ध्यान आदि समस्त क्रियाकलाप अपूर्ण हैं, इनका लाभ जितना होना चाहिये उतना नहीं हो पाता। जैसे—किसी असाध्य रोगाक्रान्त व्यक्तिके लिये बहुमूल्य बाह्य चिकित्साका पूर्ण प्रबन्ध हो, पर रोगी पथ्य-सेवनसे कतराता हो, अपथ्य आहार करता हो, कुसंयम करता हो तो पथ्याभावमें रोगका नाश कदापि सम्भव नहीं और तद्विपरीत यदि पथ्यका ही पालन सम्यक् रूपसे होता हो तो बाह्य चिकित्सा-दवादारूके अभावमें भी रोगका निवारण स्वयं प्रकृति भी क्रमशः करने लगती है। इसी प्रकार यदि भगवत्प्राप्तिका साधक नैतिक आचरण यम-नियमादिका पालन कर लेता है तो साधनाकी प्रगतिके लिये कोई-न-कोई रास्ता स्वयं निकल जाता है और पाठ, जप आदि साधन शीघ्रतर सिद्ध होने लग जाता है। इस क्रियाके द्वारा साधक अतीन्द्रिय शक्ति पाकर अपने चरम लक्ष्यतक अवश्य पहुँच जायगा। ऐसे योगमार्गमें अतीन्द्रियता या परामानसिकता परम प्रयोजनीय है। अतीन्द्रियताके लिये भी यम-नियमान्तर्गत ब्रह्मचर्यकी रक्षा परम प्रधान है। एक बार भी ब्रह्मचर्यके च्युत होनेसे महीनोंका परिश्रम मिट्टीमें मिल जाता है। ब्रह्मचर्य भी कैसा ?—

कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

अर्थात्—'कर्मसे, आचरणसे, मनसे सोचकर या वचनसे बोलकर सभी अवस्थाओंमें सदा मैथुनका त्याग करना ही सच्चा ब्रह्मचर्य है।' इस विषयमें मैथुनके सम्बन्धमें कभी न सोचना है, कभी न बोलना है और मैथुनाचरण-को तो कदापि ध्यानमें लाना ही नहीं है। तब ब्रह्मोपलब्धि सम्भव है।

यशोदाका भाग्य

जसोदा, तेरे भाग की कही न जाय।
जो मूरति ब्रह्मादिक दुरलभ, सो प्रगटे हैं आय॥
सिव-नारद-सनकादि महामुनि मिलि के करत उपाय।
ते नंदलाल धूर-धूसर बपु रहत गोद लिपटाय॥
रतन जड़ित पौढ़ाय पालने, बदन देखि मुसिकाय।
झूलो लाल, जाउँ बलिहारी, 'परमानन्द' जसु गाय॥

परमात्मा तत्काल कैसे मिलें ?

(परम श्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराजका एक प्रवचन)

[गताङ्क ५, पृष्ठ-संख्या ५८५ से आगे]

आज संयोगजन्य सुखकी लालसाके ऊपर ही गाड़ी अटकी हुई है, सबकी बात यहाँ आकर टिकती है। यह सुखकी लालसा ही बाधक है। सुख इतना बाधक नहीं है अर्थात् मनमें सुखकी लालसा है—यही खास बाधा है। असली बीमारी कहाँ है ? हमें तो इस बातका वर्षोंतक पता ही नहीं लगा था। व्याख्यान देते, प्रवचन करते वर्ष-के-वर्ष बीत गये, तब पता लगा कि बीमारी यहाँ है। हमें सुख मिल जाय, संयोगजन्य सुख मिले—यह लालसा ही परमात्माकी अनन्य लालसा होनेमें बाधा है, यह ही अनर्थका मूल है। यह जहरका बीज है। इसके सिवाय अन्य बाधा हो तो आप बताओ। आप भी तो सत्संग करते हो, पुस्तकें पढ़ते हो। मुझे तो वर्षोंके बाद यह बात मिली।

प्र०—संयोगजन्य सुखकी वासना, उसकी लालसा कैसे छूटे ?

उ०—इसके छूटनेका बड़ा सरल उपाय है। आप पक्का सोच लें कि हमें इसको छोड़ना है तो यह छूट जायगी, पर इतनी इच्छा घरकी—स्वयंकी होनी चाहिये। इसके बिना कोई उपाय काम नहीं देगा। इसको आप छोड़ना चाहते हो तो इतने आप तैयार हो जायँ तो बहुत जल्दी यह काम बन जाय, ऐसा उपाय मेरे पास है। मैंने पुस्तकोंमें जो पढ़ा है, संतोंसे जो सुना है, उनमेंसे कई बातें याद हैं। इसका सीधा सरल उपाय सबके कामका है। उपाय यही है कि एक ही बात मनमें रहे कि दूसरोंको आराम कैसे मिले, दूसरोंका भला कैसे हो ? यह लालसा लग जाय तो संयोगजन्य सुखकी लालसा छूट जायगी। करके देख लो, सफलता न मिले तो मुझसे पूछो। युक्तिसंगत न दीखे तो कह दो कि युक्तिसंगत नहीं दीखती। इसमें प्रारब्धकी भी कोई बाधा नहीं। इसमें प्रारब्ध मानना तो केवल बहानेबाजी है। किस तरह हम उद्योग करनेसे वञ्चित रह सकते हैं, इसके लिये एक उपाय है।

मनुष्य बहानेबाजी करते हैं कि प्रारब्ध ऐसा ही है। समय ऐसा आ गया कि ईश्वरने कृपा नहीं की ! अच्छे गुरुजी नहीं मिले ! अच्छे सन्त-महात्मा नहीं मिले। कोई बतानेवाला नहीं है। हमारा भाग्य ऐसा ही है—यह सब बहानेबाजी है। मेरा यह सब खूब देखा हुआ है, विचार किया हुआ है। यह केवल तत्त्वसे वञ्चित् रहनेका उपाय है और कोई बाधक नहीं है। ईश्वर भी कभी ऐसा हो सकता है, जो अपनी तरफ आनेमें बाधा दे ? हमारा किया हुआ कर्म हमको बाधा दे दे ! वासना हमारी बनायी हुई हमें बाधा दे दे ! ऐसा भी कभी हो सकता है ? नहीं हो सकता; क्योंकि हमने—स्वयंने कर्म किये हैं। स्वयंने वासना बनायी है तो हमने जो बाधाएँ पैदा की हैं, उनको हम ही मिटा सकते हैं। गुरुजी नहीं मिले, गुरुकी जरुरत नहीं है। महात्मा नहीं मिले तो महात्माकी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भगवान्‌ने जब अपनी प्राप्तिके लिये मनुष्य-शरीर दिया है तो अपनी प्राप्तिकी सामग्री कम दी है क्या ? विवेकरूपी इतनी महान् सम्पत्ति परमात्मासे मिली है, जिसके मिलनेसे गुरुकी भी आवश्यकता नहीं है। अगर जरूरत होगी तो गुरु बनकर स्वयं भगवान्‌को आना पड़ेगा **'कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्'**—वे जगद्गुरु हैं, उन्हें आना पड़ेगा।

अच्छे संत-महात्मा जगत्‌में क्यों रहते हैं ? संसारमें आकर उनको जो काम करना था, वह काम पूरा कर

लिया तो उसको उसी वक्त मर जाना चाहिये ? अब वे जीते हैं, तो केवल हमारे लिये जीते हैं। उनपर हमारा हक लगता है, पूरा-का-पूरा ! जैसे बालक दुःख पा रहा है तो माँ जीती क्यों है ? अगर माँ बालकके लिये ही माँ नहीं है तो माँको मर जाना चाहिये। उसको जीनेकी जरूरत नहीं है। ऐसे ही महात्मा पुरुष संसारमें जीते हैं तो केवल संसारके जीवोंके कल्याणके लिये जीते हैं। इसलिये महात्मा नहीं मिले—ऐसा कहना व्यर्थ है। महात्मा हमें नहीं मिलेंगे तो वे कहाँ जायेंगे ? उनको मिलना पड़ेगा ! उनको विवश होकर आना पड़ेगा। यदि हम परमात्माको चाहते हैं और गुरुकी जरूरत होगी तो गुरुजी स्वयं आ जायेंगे। भगवान् गुरुजीको भेज देंगे। ऐसी कई घटनाएँ घटी हैं। यह एकदम सच्ची बात है। इसलिये प्रारब्ध और कर्मकी कुछ बाधा नहीं है। एक प्रबल इच्छासे सब हो जायगा। प्रबल इच्छा हो तो अन्य सब इच्छाएँ भस्म हो जायँ—इसमें इतनी ताकत है। यह एकदम सच्ची बात है। इन बातोंपर हमने प्रश्न-उत्तर किये हैं, पुस्तकें देखी हैं और विचार किया है।

परमार्थिक मार्गमें हमें संतोष नहीं होता। अब भी मेरी यही खोज है कि जल्दी-से-जल्दी भगवत्प्राप्ति कैसे हो ? क्या उपाय है वह ? मेरी लगन इतनी बढ़िया नहीं है, यह भी मैं जानता हूँ, परंतु भगवान्की ऐसी विलक्षण कृपा है मेरेपर कि वे मुझे अटकने नहीं देते। अगाड़ी धक्का लगा देते हैं। ऐसी विचित्र-विचित्र बातें हैं, क्या-क्या बताऊँ ? मुझमें एक दोष भी है कि कोई सुने तो सुनाऊँ। कोई समझे तो समझाऊँ। कोई पूछे तो कहूँ। ऐसी भीतर जोरदार इच्छा हो रही है। मुझे आश्चर्य होता है कि मेरी जितनी सुननेकी इच्छा है, उतनी तुम्हारे सुननेकी इच्छा है क्या ?

एक आदमी भी कल्याण करनेको तैयार हो तो मैं समझूँ कि उसने बड़ी भारी कृपा की है मेरे ऊपर ! मुझे बहुत धन दे दिया, भोजन दे दिया, आदर दे दिया, महिमा कर दी, सुख दे दिया। मेरा कल्याण हो—ऐसी इच्छावाला एक भाई भी मेरे सामने आ जाय और पूछे कि मेरा कल्याण कैसे हो ? मैं क्या करूँ ? इस बातको मैं समझना चाहता हूँ। समझनेका नाम ज्ञानमार्ग है। दूसरेको सुख पहुँचाना कर्मयोग है। भगवान्को अपना मानना, उनमें प्रेम करना यह भक्ति-मार्ग है अर्थात् भगवान् बिना रह नहीं सकता—यह भक्तिमार्ग है। ये तीनों मार्ग स्वतन्त्र हैं। अब आपको जो अच्छा लगे सो कर लो। इनमें मेरी बहुत माथा-पच्ची की हुई है।

अब आप कहो कि मुझमें लगन नहीं होती। ना। ना ! यह बात नहीं है। साधारण-से-साधारण आदमीके बहुत लगन हो सकती है। उत्कट लगन होनेकी बहुत गुंजाइश है। सब-के-सब परमात्माके अंश हैं, इसलिये पूर्ण हैं। हिम्मत नहीं हारनी चाहिये कभी। केवल लालसा जोरदार हुई कि परमात्मा तत्काल मिले।

नारायण ! नारायण ! नारायण !

क्या मत करो और क्या करो

ऐसा कोई काम मत करो, जिससे दूसरे किसीका अपमान होता हो और ऐसा तो कभी विचार ही मत करो, जिससे दूसरोंके हितकी हानि होती हो। दूसरोंको मान दो, स्वयं मान मत चाहो। दूसरोंके अहितमें अपना हित कभी मत समझो और यथासाध्य सबका हित करो, उसीमें अपना हित समझो। ऐसा कुछ भी मत करो, जिससे अपना मिथ्या अहंकार बढ़ता हो और कर्तव्यकी विस्मृति होती हो। ऐसा कुछ भी मत करो, जिससे दूसरोंका न्याय्य अधिकार छिनता हो। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा करो और अपने कर्तव्यका पालन करो।

शिखा-(चोटी-)धारणकी महत्ता

(लेखक—ज्योतिर्विद् पं० श्रीसुरेशचन्द्रजी ठाकुर एम्० ए०)

हमारा भारत धर्मप्राण देश है। तन-मन एवं धनसे कृतसंकल्प होकर धर्मका पालन करना एवं उसकी रक्षा करना ही हम भारतीयोंका प्रधान कर्तव्य है। विशेषकर समस्त हिन्दू जातिके लिये धर्मका परम पालन करना अनिवार्य और आवश्यक है। गीतामें कहा भी है—**'यतो धर्मस्ततो जयः'** अर्थात् जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। इसी धर्मपालनके अन्तर्गत शिखा अर्थात् चोटी और यज्ञोपवीत धारणका भी विशेष महत्त्व बतलाया गया है। प्राचीन कालमें किसी समय संसारके अधिकतम भू-भागोंकी मानव-जातियोंमें शिखा-धारण करनेके रीति-रिवाज प्रचलित थे। शिखा (चोटी) रखनेका इतना महत्त्व हो गया था कि शिखासहित बाल कटवाना बड़ी सजाके रूपमें माना जाने लगा और अपमानका सूचक बन गया था। शिखाका वास्तविक महत्त्व हमारे पूर्वज हिन्दू लोग जानते थे। यवन-राज्यमें हिन्दू जातिने अपनी शिखाकी रक्षाके लिये अपने सिर कटवाकर प्राण गवाँ दिये, परन्तु चोटी न कटायी। गुरुगोविन्द सिंहके पुत्र जोरावरसिंह और फतेहसिंहने अपनी शिखाकी रक्षाके लिये अपनेको जीवित ही दीवारमें चुनवा दिया, किन्तु शिखा न कटवायी। इसी प्रकार हकीकतरायने अपना सिर कटवाकर चोटीकी रक्षा की थी।

सिरके बालोंकी उत्पत्ति गर्भमें ही होती है। गर्भावस्थासे आये हुए बालोंको कटानेके कर्मको 'बालचूड़ा-संस्कार'की संज्ञा दी है। हिन्दुओंके सोलह संस्कारोंमें इसकी भी गणना होती है। इस संस्कारका मुख्य कार्य केश-मुण्डन अर्थात् बालोंका कटवाना है, न की चोटीका, और इसी कारण इसे मुण्डन-संस्कार भी कहते हैं। इस क्रियाके बाद ही बालककी शिक्षा प्रारम्भ होती है तथा बालककी शारीरिक शुद्धिपर बौद्धिक विकासके लिये शुभ मुहूर्त्तमें सिरके बालोंको कटवाकर शिखा (चोटी) रखते हैं, पश्चात् ईश्वरकी पूजा-आराधना करके उनसे प्रार्थना की जाती है; यथा—

'दीर्घायुत्वाय बलाय वर्चसे शिखायै वषट्'।

'प्रभो ! आयु, तेज, बल, एवं ओज, शक्तिको देनेवाली इसकी शिखा इसे कल्याणप्रद हो।'

शिखा रखनेका वैज्ञानिक महत्त्व भी है, जैसे सिरके दो प्रमुख भाग हैं। प्रथम भागको मस्तिष्क और दूसरेको 'मस्तुलिङ्ग' कहते हैं। ये दोनों भाग सुषुम्ना नाड़ीसे सम्बन्धित रहते हैं। इससे मस्तिष्क हमारी ज्ञानशक्तिका केन्द्र होकर ज्ञानेन्द्रियोंको प्रभावित करता है और मस्तुलिङ्ग कर्मशक्तिका केन्द्र होकर कर्मेन्द्रियोंको प्रभावित करता है। परन्तु इनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न हैं। मस्तिष्क शीत-प्रधान है और मस्तुलिङ्ग उष्ण-प्रधान है। मस्तुलिङ्ग उष्ण-प्रधान होनेसे मस्तुलिङ्गपर (बालोंका) गुच्छा अर्थात् शिखा—चोटी रखना अनिवार्य होता है; क्योंकि शिखाके बाल अपने स्थानको रसद तक पहुँचाते रहते हैं।

भाषा-विज्ञानके अन्तर्गत संस्कृत भाषामें अग्निको 'शिखी' कहते हैं, यथा—**'शिखा यस्यास्तीति स शिखी'** अर्थात् जिसकी शिखा हो, वह शिखी कहा जाता है। अग्नि सम्बद्ध अर्थमें 'शिखा' ज्वालाका प्रतीक है तथा यह सभी भलीभाँति समझते हैं कि बिना ज्वाला- (शिखा-) की अग्नि हवनके उपयुक्त नहीं होती। जैसे यज्ञोंमें कुण्डके भीतर अग्नि तो रहती ही है, परन्तु जबतक अग्नि-मुख अर्थात ज्वाला प्रकट नहीं होती है, तबतक आहुति

नहीं दी जाती है, इसी प्रकार बिना चोटीके मनुष्य भी बौद्धिक (यज्ञादि) कार्योंके उपयुक्त नहीं है।

शिखा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र—चारों वर्णोंके लिये अर्थात् समस्त हिन्दू जातिके लिये आवश्यक है। बिना यज्ञोपवीतके शूद्रोंका सब कार्य चल सकता है, परन्तु शिखा-(चोटी-) के बिना शूद्रोंका कार्य भी विफल हो जाता है। अतएव प्राचीन समयमें समस्त हिन्दू शिखा रखते थे। कात्यायनादिके अनुसार शिखा रहितके कार्य व्यर्थ हैं—**विशिखी व्युपनीती च यत्कुर्यात्तन्निष्फलम्।**

शास्त्रोंमें शिखा-धारणको ही अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण कहा गया है, शिखा-धारणसे ही हिन्दुत्व-की पहचान होती है तथा हिन्दुत्वका रक्षण और पोषण होता है। केवल स्त्रियों और शूद्रवर्णके लोगोंको यज्ञोपवीत पहना देनेसे ही हिन्दुत्वकी रक्षा न होगी। शास्त्रोंमें स्त्री व शूद्रको यज्ञोपवीतका अधिकार नहीं दिया गया है। परन्तु शिखा शूद्रके लिये भी विहित है। उसके बिना शूद्रके कार्य विफल हो जाते हैं। इस प्रकार हमारे पूर्वाचार्योंने शिखा-धारण वैज्ञानिक और धार्मिक दोनों प्रकारसे आवश्यक माना है। जिस पुरुषके शिखा नहीं होती वह हिन्दू होते हुए भी वस्तुतः हिन्दू नहीं कहा जा सकता।

समस्त शुभ कर्मोंमें शिखाबन्धन आवश्यक है, शास्त्रोंमें संध्या, देवपूजन आदि शुभ कर्मके समय शिखा बाँधनेका विशेष विधान बतलाया गया है; यथा—

स्नाने दाने जपे होमे संध्यायां देवतार्चने।
शिखाग्रन्थिं सदा कुर्यादित्येतन्मनुरब्रवीत्॥

अर्थात्—'स्नानके समय, दानके समय, जप करते समय, हवन और देवपूजनके समय हमेशा शिखाको बाँधना चाहिये अर्थात् चोटीमें गाँठ लगानी चाहिये—यह बात मनुने कही है।'

धर्मशास्त्रोंमें शिखा-धारण या गर्भके बालोंको काटनेकी एक विशिष्ट संस्कार-विधि है, जिसे 'चूड़ाकरण' या 'मुण्डन-संस्कार' या 'बाल-संस्कार' इत्यादि संज्ञा दी गयी है। सामान्यतया मालवप्रान्तमें और अन्य जगह भी इसे 'जमाल उतारना' कहते हैं। यह जमाल उतारनेका कर्म ही 'चूड़ाकरण-संस्कार' है। समस्त हिन्दू आज भी अपने बच्चोंके 'जमाल' उतारते हैं। यह हमारे हिन्दुत्वकी एक पहचान है। परंतु इसमें इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि शिखाको नहीं काटना चाहिये और सिरके समस्त बालोंको कटवाना चाहिये। जमालके समय रखी गयी इस चोटीकी रक्षा आजीवन (मृत्यु-पर्यन्त) करनी चाहिये। समस्त शुभ कर्मोंमें शिखामें गाँठ लगानी चाहिये। बड़े दुःखकी बात है कि जिस चोटीकी रक्षाके विषयमें हमारे शास्त्रोंमें पूर्वाचार्योंने इतना महत्त्व प्रतिपादित किया एवं पूर्वके कट्टर हिन्दुओंने इसकी रक्षामें अपने प्राणतक दे दिये, आज उसी चोटी-(शिखा-) को हमारे हिन्दू भाई स्वयं अपने हाथोंसे कटवाते हैं। आजके बालक 'हिप्पी कट' बाल बनवानेमें ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। प्रसङ्गवशात् समस्त हिन्दू-बालकके माता-पिता और अभिभावकोंसे मेरी प्रार्थना है कि वे अपने बालकोंको चोटी रखनेकी आवश्यकता और महत्ताको बतलायें और यथासमय उसकी रक्षाके लिये उन्हें बाध्य करें एवं यज्ञ, दान, जप, होम, सन्ध्या, देव-पूजनादि कर्मोंके समय शिखामें गाँठ लगानेकी प्रेरणा प्रदान करें। शिखा ही हमारे हिन्दुत्वकी, विशुद्ध भारतीयताकी प्रतीक है।



गीताका कर्मयोग—६३

(श्रीमद्भगवद्गीताके चौथे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या)

(परम श्रद्धेय स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

[गताङ्क सं० ५, पृष्ठ-संख्या ६०० के आगे]

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते ॥२२॥

भावार्थ—फलासक्तिका उद्देश्य न रहनेके कारण प्रवृत्ति-परायण कर्मयोगीको सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि जो भी मिल जाय, वह उसीमें सन्तुष्ट रहता है अर्थात् कर्मफलके रूपमें मिलनेवाली प्रत्येक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितिका स्पष्ट बोध होनेपर भी उसपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। किसी भी प्राणीमें उसका किंचिन्मात्र भी ईर्ष्याका भाव नहीं होता। वह राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि द्वन्द्वोंसे रहित होता है। कार्यके पूरा होने अथवा न होनेका, कर्मफल प्राप्त होने अथवा न होनेका उसके अन्तःकरणपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता; वह प्रत्येक अवस्थामें सम रहता है। ऐसा कर्मयोगी कर्म करते हुए भी उनसे बँधता नहीं अर्थात् उसके कर्म अकर्म हो जाते हैं। वह सदा निर्लिप्त रहता है।

अन्वय—**यदृच्छालाभसंतुष्टः, विमत्सरः, द्वन्द्वातीतः, सिद्धौ, च, असिद्धौ, समः, कृत्वा, अपि, न, निबध्यते ॥२२॥**

पद-व्याख्या—**यदृच्छालाभसंतुष्टः** (जो कर्मयोगी) फलकी इच्छाके बिना अपने-आप जो कुछ (अनुकूलता या प्रतिकूलता) मिल जाय, उसमें (सदा) सन्तुष्ट रहता है।

कर्मयोगी निष्कामभावपूर्वक भलीभाँति सम्पूर्ण कर्तव्य कर्म करता है। फलप्राप्तिका उद्देश्य न रहनेपर कर्म करनेपर फलके रूपमें उसे अनुकूलता या प्रतिकूलता, लाभ या हानि, मान या अपमान, स्तुति या निन्दा आदि जो कुछ मिलता है, उससे उसके अन्तःकरणमें कोई असंतोष उत्पन्न नहीं होता। जैसे, वह व्यापार करता है तो उसे व्यापारमें लाभ हो अथवा हानि, उसके अन्तःकरणपर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। वह प्रत्येक परिस्थितिमें समानरूपसे सन्तुष्ट रहता है; क्योंकि उसके मनमें फलकी इच्छा नहीं होती। तात्पर्य यह है कि व्यापारमें उसे लाभ-हानिका ज्ञान तो होता है तथा वह तदनुसार यथोचित चेष्टा भी करता है, पर परिणाममें वह सुखी-दुःखी नहीं होता। यदि साधकके अन्तःकरण-पर अनुकूलता-प्रतिकूलताका किञ्चित् प्रभाव पड़ भी जाय, तो भी उसे घबराना नहीं चाहिये; कारण कि साधकके अन्तःकरणमें वह प्रभाव स्थायी नहीं रहता, शीघ्र मिट जाता है।

उपर्युक्त पदोंमें आया 'लाभ' शब्द प्राप्तिके अर्थमें है, जिसके अनुसार केवल लाभ या अनुकूलताका मिलना ही 'लाभ' नहीं है, प्रत्युत लाभ-हानि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि जो कुछ प्राप्त हो जाय, वह सब 'लाभ' ही है।

विमत्सरः—ईर्ष्यासे रहित।

कर्मयोगी सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ अपनी एकता मानता है—**'सर्वभूतात्मभूतात्मा'** (गीता ५। ७)। इसलिये उसका किसी भी प्राणीसे किंचित् भी ईर्ष्याका भाव नहीं रहता।

विमत्सरः—पद अलगसे देनेका भाव यह है कि अपनेमें किसी प्राणीके प्रति किञ्चित् भी ईर्ष्याका भाव न आ जाय, इस विषयमें कर्मयोगी बहुत सावधान रहता है; कारण कि कर्मयोगीकी सम्पूर्ण क्रियाएँ प्राणि-

मात्रके हितके लिये ही होती हैं; अतः यदि उसमें किंचित् भी ईर्ष्याका भाव होगा, तो उसकी सम्पूर्ण क्रियाएँ दूसरोंके हितके लिये नहीं हो सकेंगी।

ईर्ष्या-दोष बहुत सूक्ष्म है। दो दूकानदार हैं और आपसमें मित्रता रखते हैं। उनमें एककी दूकान दूसरेकी अपेक्षा अधिक चल जाय, तो दूसरेमें थोड़ी ईर्ष्या उत्पन्न हो जायगी कि उसकी दूकान अधिक चल गयी, मेरी कम चली। इस प्रकार ईर्ष्या-दोषके कारण मित्रसे भी मित्रकी उन्नति नहीं सही जाती। जहाँ आपसमें प्रेम है, एकता है, मित्रता है, वहाँ भी ईर्ष्या-दोष आ जाता है; फिर जहाँ वैर, भिन्नता आदि हो, वहाँका तो कहना ही क्या है? इसलिये साधकको इस दोषसे बचनेके लिये विशेष सावधान रहना चाहिये।

द्वन्द्वातीतः—द्वन्द्वोंसे अतीत।

कर्मयोगी लाभ-हानि, मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये उसके अन्तःकरणमें उन द्वन्द्वोंसे होनेवाले राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकार नहीं होते।

द्वन्द्व अनेक प्रकारके हैं; जैसे—भगवान्‌का सगुण-साकाररूप ठीक है या निर्गुण-निराकाररूप ठीक है, अद्वैत सिद्धान्त ठीक है या द्वैत सिद्धान्त ठीक है, भगवान्‌में मन लगा या नहीं लगा, एकान्त मिला या नहीं मिला, शान्ति मिली या नहीं मिली, सिद्धि मिली या नहीं मिली इत्यादि। इन सब द्वन्द्वोंके साथ सम्बन्ध न होनेसे ही साधक निर्द्वन्द्व होता है। जैसे तराजू किसी भी तरफ झुक जाय तो वह बराबर नहीं कहलाता, वैसे ही साधकके अन्तःकरणमें किसी भी तरफ झुकाव हो जाय तो वह द्वन्द्वातीत नहीं कहलाता।

कर्मयोगी सब प्रकारके द्वन्द्वोंसे अतीत होता है, इसलिये वह सुखपूर्वक संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाता है (गीता ५। ३)।

सिद्धौ च असिद्धौ समः—(तथा) सिद्धि और असिद्धिमें सम है।

किसी भी कर्तव्य-कर्मका निर्विघ्नरूपसे पूर्ण हो जाना सिद्धि है और किसी प्रकारके विघ्न-बाधाके कारण उसका पूर्ण न होना असिद्धि है। कर्मका फल मिल जाना सिद्धि है और न मिलना असिद्धि है। सिद्धि और असिद्धिमें राग-द्वेष, हर्ष-शोक आदि विकारोंका न होना ही सिद्धि-असिद्धिमें सम रहना है। दूसरे अध्यायके अड़तालीसवें श्लोकमें **'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा'** पदोंमें भी यही भाव आया है।

अपना कुछ भी नहीं है, अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये और अपने लिये कुछ भी नहीं करना है—ये तीनों बातें ठीक-ठीक अनुभवमें आ जायँ, तभी सिद्धि और असिद्धिमें पूर्णतः समता आयेगी। समताका आना भी द्वन्द्वातीत स्थितिका द्योतक है।

कृत्वा अपि न निबध्यते—(वह कर्मयोगी कर्म) करते हुए भी (उससे) नहीं बँधता।

'कृत्वा अपि' पदोंका तात्पर्य है कि कर्मयोगी कर्म करते हुए भी नहीं बँधता, फिर कर्म न करते हुए बँधनेका प्रश्न ही पैदा नहीं होता। वह दोनों अवस्थाओंमें निर्लिप्त रहता है।

जैसे शरीर-निर्वाहमात्रके लिये कर्म करनेवाला कर्मयोगी कर्मोंसे नहीं बँधता, वैसे ही शास्त्रविहित सम्पूर्ण कर्मोंको करनेवाला कर्मयोगी भी कर्मोंसे नहीं बँधता।

वास्तविक दृष्टिसे देखा जाय तो कर्मयोगमें कर्म करना, अधिक करना, कम करना अथवा न करना बन्धन या मुक्तिका कारण नहीं होता है। इनके साथ जो लिप्तता (लगाव) है, वही बन्धनका कारण है और जो निर्लिप्तता है, वही मुक्तिका कारण है। जैसे, नाटकमें एक व्यक्ति लक्ष्मणका और दूसरा व्यक्ति मेघनादका स्वाँग

धारण करता है और दोनों व्यक्ति अपने-अपने स्वाँगको भलीभाँति निभाते हुए भी उससे निर्लिप्त रहते हैं अर्थात् अपनेको वास्तवमें लक्ष्मण या मेघनाद नहीं मानते, ऐसे ही कर्मयोगी अपने वर्ण, आश्रम आदिके अनुसार कर्तव्यका पालन करते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहता है अर्थात् उनसे अपना कोई सम्बन्ध नहीं मानता। उसका सम्बन्ध नित्य-निरन्तर रहनेवाले स्वरूपके साथ रहता है, प्रतिक्षण परिवर्तनशील प्रकृतिके साथ नहीं। इसलिये उसकी स्थिति स्वाभाविक ही समतामें रहती है। समतामें स्थिति रहनेसे वह कर्म करते हुए भी उनसे नहीं बँधता। समताका ही फल निर्लिप्तता है।

यदि विशेष विचारपूर्वक देखा जाय तो समता स्वतः-सिद्ध है। यह प्रत्येक मनुष्यका अनुभव है कि अनुकूल परिस्थितिमें हम जो रहते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति आनेपर भी हम वही रहते हैं। यदि हम वही (एक ही) न रहते, तो दो भिन्न-भिन्न (अनुकूल और प्रतिकूल) परिस्थितियोंका ज्ञान किसे होता ? इससे सिद्ध हुआ कि परिवर्तन परिस्थितियोंमें ही होता है, अपने स्वरूपमें नहीं। इसलिये परिस्थितियोंके बदलनेपर भी स्वरूपसे हम सम (ज्यों-के-त्यों) ही रहते हैं। भूल यह होती है कि हम परिस्थियोंकी ओर तो देखते हैं, पर स्वरूपकी ओर नहीं देखते। अपने सम स्वरूपकी ओर न देखनेके कारण ही हम आने-जानेवाली परिस्थितियोंसे मिलकर सुखी-दुःखी होते हैं। वस्तुतः हमें अपने स्वरूपपर सदा दृष्टि रखनी चाहिये। (क्रमशः)

श्रीमाँ शारदादेवी—नारियोंका पवित्र आदर्श

(लेखक—श्रीओमप्रकाशजी शर्मा)

श्रीरामकृष्ण परमहंसदेवकी लीला-सहचरी श्रीमाँ शारदादेवीके आदर्श जीवन-चरितको दृष्टिगोचर रखते हुए स्वामी विवेकानन्दजीने ये उद्गार व्यक्त किये थे—माताजीके जीवनकी अपूर्व विशिष्टता कौन समझ सका है ? कोई भी नहीं। किंतु धीरे-धीरे सब जान जायँगे। जिस शक्तिके बिना जगत्का उद्धार नहीं हो सकता उसी अनुपम शक्तिका भारतवर्षमें पुनरुत्थान करनेके लिये माताजीने जन्म लिया है और उनका आदर्श लेकर एक बार फिर संसारमें गार्गी और मैत्रेयीके समान स्त्री-रत्न उत्पन्न होंगे।

भारतवर्षमें समय-समयपर महापुरुषोंकी भाँति महान् नारियाँ भी जन्म लेती रही हैं जिनसे इस देशमें नारी जातिको प्रकाश मिलता रहे एवं उसका पथ-प्रदर्शन होता रहे। श्रीमाँ शारदादेवी भी एक ऐसी ही दिव्य विभूति थीं जो आदर्श-गृहिणी होती हुई भी पूर्णतया संन्यासिनी थीं, जो किसी बालक या बालिका-विशेषकी सांसारिक माँ न होते हुए भी सारे जगत्की माँ थीं और जिनके जीवन और संदेशसे असंख्य लोग अभी भी प्रेरणा लेते हैं और अपनेको धन्य मानते हैं। कोई भी ऐसा न था जो उनके सम्पर्कमें आया और उनके पवित्र एवं उन्नत करनेवाले सार्वभौमिक प्रेमसे वंचित रहा हो। भारतके भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टर सर्वपल्ली राधाकृष्णन् लिखते हैं—श्रीशारदादेवीजीके पास जाकर उनके उपदेशसे, उनके पवित्र सान्निध्यसे, अध्यात्म-जीवनमें कोई भी अनुन्नत रह गया हो, ऐसा कभी नहीं हुआ है। जो कोई भी उनके दर्शन करनेका सुयोग पाते, वापस आकर कहते कि श्रीशारदादेवी मृदुता, पवित्रता, माधुर्य व ज्ञानकी मूर्तविग्रहरूप हैं। उनके मुँहसे कभी भी रूक्ष शब्द निकलता ही नहीं था, वे कभी भी कठोर न होती थीं, जो कि दृढ़-चित्त तो अवश्य

थीं।·······हर कोई अनुभव कर पाते कि वह—किसी विराट् सत्य-दृष्टिके सामने हाजिर हुआ है जो परमेश्वरके राज्यमें विचरती है, जो निर्विशेष ब्रह्म उपलब्धि कर पायी है और यही कारण था कि आप जातिकुल-निर्विशेष सभीको उदार समदृष्टिपूर्ण समादरसे धन्य कर पातीं थीं।

श्रीरामकृष्णपरमहंसदेव जब २४ वर्षके थे, उनका विवाह बालिका शारदामणिके साथ सम्पन्न हो गया था, जो कि केवल छः वर्ष की थीं, और वह हुआ भी बड़े विचित्र ढंगसे था। जगन्माताके दर्शनार्थ परमहंसदेव कठोर साधनारत थे, श्मशानमें विचरते थे और माँ! दर्शन दो, माँ! रामप्रसादको तो दर्शन दिया, मुझे क्यों नहीं देती? की व्याकुलता एवं हृदय-स्पन्दन और करुणा उत्पन्न करनेवाली पुकारसे दक्षिणेश्वरके काली मंदिरके प्रांगणको गुँजा देते थे। उनकी इस सामान्य दृष्टिसे दयनीय अवस्थाको देखकर उनके कुटुम्बी, विशेषकर उनकी माता चन्द्रामणि देवी और ज्येष्ठ भ्राता रामेश्वर, अत्यन्त चिन्तित हो उठे और उन्होंने ठाकुर श्रीरामकृष्णको शीघ्र ही विवाह-बन्धनमें बाँधनेका निश्चय कर लिया जिससे उनका मन संसारमें पड़ जाय और वे इस दिव्योन्मादसे बच जायँ। किंतु जब बहुत प्रयत्न करनेपर भी उनको उपयुक्त कन्या न मिली, तब एक दिन श्रीरामकृष्णने स्वयं उनसे कहा—इधर-उधर खोजनेसे कोई लाभ नहीं। कन्या तो जयरामबाटी ग्राममें रामचन्द्र मुखोपाध्यायके घरमें पहलेसे ही नियुक्त है—दूबसे बाँधकर (अर्थात् उन्हींके लिये दैवनिर्दिष्ट) अलगसे रखी हुई है। और हुआ भी वैसा ही। जब माँ चन्द्रामणि और रामेश्वर जयरामबाटी-स्थित रामचन्द्र मुखोपाध्यायके घर पहुँचे तो श्रीरामकृष्णद्वारा वर्णित अत्यन्त सुलक्षणा और होनहार छोटी-सी बालिकाको पाया और वे बड़े अचम्भित हुए। यह कन्या बचपनसे ही माता-पिताकी सेवा, छोटे बच्चोंकी मातृवत् देख-भाल और दीन-दुखियोंके प्रति दया, करुणा और सहानुभूति आदि गुणोंसे सम्पन्न थी तथा सारे गाँवकी दुलारी थी। और आश्चर्यकी बात तो यह थी कि उम्रमें इतना अन्तर होते हुए भी उसके माता-पिता विवाहके लिये राजी हो गये।

यही कन्या बादमें जाकर श्रीमाँ शारदा बनी और आदर्श-गृहिणी, परमयोगिनी और आध्यात्मिक गुरुके रूपमें नारी-जगत्में प्रख्यात हुई। भगिनी निवेदिता उनको अमेरिकासे एक पत्रमें उन्हींके सम्बन्धमें लिखती हैं—

'·······प्यारी माँ! तुम प्रेमसे परिपूर्ण हो और वह प्रेम कुछ हमारे-जैसा सांसारिक लौकिक उभरता प्रेम नहीं, परंतु वह तो सबका कल्याण करनेवाला, किसीका भी अहित नहीं चाहनेवाला, मृदु शान्तिमय प्रेम है, वास्तवमें वह तो लीलामय सात्त्विक प्रभा है·······तुम्हारे आशीर्वाद और सान्निध्यमें मैंने अनोखी मुक्तिका अनुभव किया। परमप्यारी माँ! तुम्हारा अद्भुत स्तव या तुम्हारी स्तुति कर सकूँ, ऐसा चाहती हूँ। परंतु जैसा भी हो, यह बात भी बड़ी मूर्खता या अधिक शोर करनेवाली लगती है—तुम्हारे सामने जो शान्तस्वरूप हो। सचमुच तुम ईश्वरकी एक अद्भुत देन हो—जगत्के लिये श्रीरामकृष्णदेवकी साक्षात् प्रेमाधार स्वरूप हो। उनके अभावमें, उनकी सन्तानोंके पास तुम मूर्त स्मृतिरूप हो और तुम्हारे समक्ष हमको अतिवादी नहीं होना चाहिये।

ईश्वरकी सभी अलौकिक अमूल्य वस्तुएँ शान्त होती हैं और हमारे जीवनमें बगैर शोरगुल किये सूक्ष्म गतिसे प्रवेश कर जाती हैं, जैसे सूर्यका प्रकाश व गर्मी, हवा, गंगाजीकी शीतलता, पुष्पोद्यानकी सुगन्ध और मधुरता आदि। तुम भी वैसी ही हो, तुम्हारे श्रेष्ठ अलौकिक प्रभावकी वैसी ही गति है·······।'

यद्यपि माँ शारदाका विवाह श्रीरामकृष्णदेवके साथ हो गया था तथापि दोनोंकी इतनी उच्च आध्यात्मिक अवस्था थी कि उनका सामान्य शादी-शुदा लोगोंकी तरह कोई भी भौतिक-वैषयिक या शारीरिक सम्बन्ध न था। श्रीरामकृष्णने तो उन्हें साक्षात् जगज्जननीके रूपमें ही देखा और उनके साथ सदैव वैसा ही व्यवहार किया। उपर्युक्त उम्रमें (श्रीमाँके पूर्ण यौवन प्राप्त करनेपर) परमहंसदेवने उनकी विधिवत् षोडशी पूजा भी की और अपनी जपमाला तथा सम्पूर्ण साधनाका फल उनके श्रीचरणोंमें अर्पण कर दिया। उस शुभ घड़ीमें दोनों पुजारी तथा पूज्य देवी समाधि-मग्न हो गये और इस प्रकारसे उनके दिव्य और अलौकिक विवाहकी आध्यात्मिक परिपूर्णता हुई तथा आत्मिक मिलन हुआ। श्रीमाँ शारदादेवी भगवान् रामकृष्णदेवके हाथों जगज्जननीके स्वरूपमें प्रतिष्ठित हुईं और विश्वमातृत्वका अकुण्ठ प्रकाश उनके अन्तरतलमें उद्भूत हो गया।'

एकबार ठाकुरकी पदसेवा करती हुई श्रीमाँने उनसे पूछा भी——आप मुझे किस दृष्टिसे देखते हो? श्रीरामकृष्णने तत्काल उत्तर दिया——जिस माँ (चन्द्रामणि-) ने इस शरीरको जन्म दिया है और जो जगन्माता काली मंदिरमें विराजमान हैं——वही माँ अब इस समय मेरे पैर दबा रही हैं। कोई अन्य भाव तो उनके मनमें कभी आता ही नहीं था। वे तो सदा सर्वत्र सब स्त्रियोंमें माँ भगवतीको देखते थे और फिर माँ शारदामें तो मातृत्वका विशेष आविर्भाव हुआ ही था। वे स्वयं एक बार बोली थीं, जब ठाकुरने शरीर छोड़ दिया था——'जगत्में मातृभावके विकासके लिये ही ठाकुर मुझे छोड़ गये हैं। ठाकुर उनके सम्बन्धमें और भी कहते थे, जैसे कि 'माँ शारदा साक्षात् सरस्वती हैं——रूप छिपाकर आयी हैं जिससे कि लोगोंकी कुदृष्टि न पड़े। वे जगत्को ज्ञान, भक्ति, वैराग्य, मुक्ति देने आयी हैं। मेरे जानेके पश्चात् उनको सार्वजनिक कल्याण-हेतु बहुत काम करना होगा। स्वामी विवेकानन्दजी-जैसे तीक्ष्ण बुद्धिवाले व्यक्तिने भी उनके अपूर्व आध्यात्मिक प्रकाश, दैवी गुण, मातृ-भाव तथा गुरु-भावके अद्भुत समावेशको दृष्टिमें रखते हुए उन्हें 'जीती-जागती दुर्गा' की उपाधि दी। उस आधुनिक दुर्गाके अनोखे दाम्पत्य जीवन, सहृदयता, सरलता, दया, प्रेम, सेवा-भाव इत्यादिके सामञ्जस्यने संसारके समक्ष एक नवीन आदर्श प्रस्तुत कर दिखाया जो कि कलिकालमें होते हुए भी सत्युगकी याद दिलाता है।

श्रीरामकृष्णके देहावसानके पश्चात् कुछ स्वयंको समाजसुधारक घोषित करनेवालोंने यह विचार व्यक्त किया कि यदि ठाकुरको सांसारिक कुटुम्ब नहीं करना था तो उनको माँके साथ विवाह करके उनके साथ अत्याचार नहीं करना चाहिये था। और विवाह कर ही लिया तो उन्हें उनके माँ बननेके अधिकारकी सम्पुष्टि करनी चाहिये थी, अर्थात् सन्तानोत्पत्तिका लाभ और पारिवारिक सन्तोष व आनन्द देना चाहिये था। शायद ऐसी ही कुछ आगे चलकर अज्ञानमें की हुई सम्भावित आलोचनाको दृष्टिगोचर रखते हुए श्रीरामकृष्णदेवने श्रीमाँसे एक बार पूछा——तुम मेरी विवाहिता पत्नी हो—तुम्हारा मेरेपर पूर्ण अधिकार है। यदि तुम मेरे साथ शारीरिक सम्बन्ध करके मुझे सांसारिक विषय-भोगमें घसीटना चाहती हो तो मैं तैयार हूँ।' श्रीमाँने तुरंत उत्तर दिया। सांसारिक विषय-भोगमें क्यों घसीटने लगी, मैं तो आपकी साधनामें सहयोग देने आयी हूँ।' बादमें माँने ठाकुरके देहान्तोपरान्त यह भी कहा——(जो उन आलोचकों, जो सन्तानोत्पत्तिद्वारा मानसिक और पारिवारिक सन्तोष व आनन्दकी बात करते थे, एक प्रकारसे उपर्युक्त उत्तर भी था।) 'जितने दिन मुझे ठाकुरके

समीप रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ—उनके दिव्य ईश्वरीय आनन्दका रसास्वाद करनेका मौका मिला, उतने दिन ऐसा प्रतीत होता था कि मानो हृदयमें एक अमृतकलश रखा हुआ है। कब और कैसे दिन और रात बीत जाते थे, पता ही नहीं चलता था—सहज ईश्वरीयभाव रहता था।' निःसन्देह ऐसी अवस्थामें केवल अपने शरीरसे उत्पन्न पुत्र, पुत्री ही अपने हैं, यह महसूस होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। समस्त जगत् ही अपना परिवार लगता होगा और गौर-निताईकी तरह सबसे गले मिलकर सबको वह दिव्यानन्द बाँटनेकी हार्दिक इच्छा अवश्य होती होगी। और, जब ठाकुर और माँ दोनोंकी शारीरिक उपस्थिति नहीं है, तब भी हमको उनकी स्मृतिमात्रसे ही वैसा आनन्द प्राप्त होता है। यह बात कौन संकुचित परिवारवाला समझ सकता है?

माँने ठाकुरसे कहा था—'मैं आपको संसारमें घसीटने नहीं, आपकी साधनामें सहयोग देने आयी हूँ।' और सहयोग भी कैसा श्रेष्ठ और दैविक दिया, जिसकी जगत्में मिशाल नहीं है। लगभग एक वर्षतक श्री-ठाकुरके साथ एक ही घरमें रहकर उनकी निकटसे शारीरिक सेवा करते हुए भी उनमें तनिक भी काम-वासनाकी गन्धतक नहीं आयी—और न उनके आराध्यदेव श्रीरामकृष्णमें ही। संसारके बड़े-बड़े दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, साहित्यकार तथा धर्मगुरु इस घटनाको अद्वितीय बताते हैं और पूछते हैं, क्या प्राणिमात्रसे यह सम्भव है? लिखते हैं इस सम्बन्धमें स्वामी अपूर्वानन्द——

'श्रीरामकृष्णदेवने श्रीशारदादेवीके लिये रहनेकी व्यवस्था तो अपनी मातावाले घरमें नौबतखानेके नीचे कर दी थी, पर रात्रिमें उनके शयनका प्रबन्ध उन्होंने अपने ही कमरेमें किया था। एक या दो दिन नहीं—लगातार आठ माहतक वे दोनों दिन-रात एक साथ रहे। स्वस्थ सबल और पूर्ण युवा थे ठाकुर और नवयौवन-सम्पन्ना थीं श्रीशारदा देवी। इसके साथ-साथ उनके सम्बन्ध भी बहुत ही घनिष्ठ और अन्तरंग थे। ····कभी-कभी वे उनके साथ इतनी सरस बातें करते कि श्रीशारदादेवी हँसते-हँसते लोटपोट हो जातीं ····दिन-रात एक समान दिव्य आनन्दमें कट रहे थे। श्रीशारदादेवी सानन्द स्वामीकी सेवामें तत्पर रहतीं। शयनगृहको साफ-सुथरा रखना, उनके सिरमें तथा शरीरमें तेलकी मालिश करना, स्वयं पकाकर उन्हें भोजन खिलाना, उनके पैर दबाना आदि सभी कुछ स्वाभाविक गतिसे चलता था।····ठाकुरका गृहस्थजीवन बहुत ही मधुर था। कभी-कभी तो दोनों ही ईश्वर-चर्चामें तन्मय हो जाते। कभी-कभी ठाकुर विभिन्न भावोंसे उन्हें घरके कामकाज सिखाने लगते। संसारमें दस आदमियोंसे कैसे व्यवहार करना चाहिये, उनके साथ किस प्रकार चलना चाहिये आदि छोटी-से-छोटी बात भी वे छोड़ते नहीं थे। किंतु रात होनेपर ठाकुर अपने-आपमें नहीं रहते थे। ज्यों-ज्यों रात बढ़ती जाती, त्यों-त्यों उनकी समाधि और भावमें भी गम्भीरता आती जाती। कभी-कभी वे सारी रात समाधिमें ही बिता देते।'

पहले-पहल तो माताजी यह विचित्र स्थिति देखकर घबरा जाती थीं, किंतु फिर ठाकुरने उनको बता दिया कि यदि वे भावावेशमें होवें या समाधिस्थ हो जावें और ऐसे-ऐसे लक्षण प्रकट होवें तो माताजीको उनके सम्मुख अमुक-अमुक मन्त्रका उच्चारण करना चाहिये, जिससे उनके भावका उपशम हो। इस प्रकार ठाकुरने माताजीको अनेक मन्त्रोंका ज्ञान दिया तथा अनेक आध्यात्मिक रहस्योद्घाटन किये।

बादमें श्रीरामकृष्णने यह स्वीकार भी किया कि यदि श्रीमाँ उतनी उच्च कोटिकी पात्र नहीं होतीं तो यह सब सम्भव नहीं हो पाता और वे मन और देहकी इतनी पवित्र नहीं होतीं तो शायद उनकी साधना ही पूरी नहीं होती। उस अवस्थामें सम्भवतः श्रीराम-कृष्ण विश्ववरेण्य श्रीरामकृष्ण न हो पाते। श्रीमाँ शारदादेवी वास्तवमें और सच्चे अर्थमें ठाकुरकी 'सहधर्मिणी' निकलीं, जिनका एकमात्र लक्ष्य पतिसेवाद्वारा ईश्वर-लाभ करना एवं उनके धार्मिक और आध्यात्मिक पथमें बाधा न होकर सहायक बनकर ही रहना था।

(क्रमशः)

पाँच दिशाएँ

भगवान् बुद्धका श्रृगाल नामक एक शिष्य प्रतिदिन स्नान करके पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर और नीचे—इन छओं दिशाओंको प्रणाम किया करता था। एक दिन भगवान्ने कृपा करके उसे इन दिशाओंकी पूजाका रहस्य इस प्रकार समझाया—

माता-पिताको पूर्व दिशा समझना, गुरुको दक्षिण दिशा, पत्नीको पश्चिम, मित्र-बान्धवोंको उत्तर, सेवकोंको नीचेकी और साधु-ब्राह्मणोंको ऊपरकी दिशा समझना।

पूर्व दिशा अर्थात् माता-पिताकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—१–उनके काम करना, २–भरण-पोषण करना, ३–कुलमें प्रचलित सत्कार्योंको चालू रखना, ४–उनकी सम्पत्तिका हिस्सेदार बनना और ५–मरनेपर उनके नामसे दान-धर्म करना। इन पाँच अङ्गोंके द्वारा पूजित माता-पिता सन्तानपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१–उसको पापसे बचाते हैं, २–कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३–कला-कौशल सिखलाते हैं, ४–योग्य पत्नीके साथ उसका विवाह कर देते हैं और ५–उपयुक्त समयपर अपनी सम्पत्ति सौंप देते हैं।

दक्षिण दिशा अर्थात् गुरुकी पूजाके पाँच प्रकार हैं—१–गुरुके समीप आनेपर उठकर खड़े हो जाना, २–बीमार पड़नेपर उनकी सेवा करना, ३–उनकी दी हुई शिक्षाको श्रद्धापूर्वक समझ लेना, ४–उनके काम करना और ५–वे जो विद्या दान करें उसे उत्तम रीतिसे ग्रहण करना। इन पाँच प्रकारोंसे पूजित गुरु अपने उस शिष्यपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१–सदाचार सिखाते हैं, २–उत्तमरूपसे विद्यादान करते हैं, ३–अपनी सीखी हुई सम्पूर्ण विद्या सिखा देते हैं, ४–अपने आत्मीय-स्वजनोंमें उसका गुण वर्णन करते हैं और ५–शिष्यको कहीं भी खान-पानकी अड़चन न भोगनी पड़े, इसकी व्यवस्था करते हैं।

पश्चिम दिशा अर्थात् पत्नीकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—१–उसका सम्मान करना, २–अपमान न होने देना, ३–एक पत्नीव्रतका पालन करना, ४–घरका कारोबार उसे सौंप देना और ५–वस्त्रालंकारकी कमी न होने देना। इन पाँच अङ्गोंसे पूजित पत्नी पतिपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करती है—१–घरमें सुव्यवस्था रखती है, २–नौकर-चाकरोंकी प्रेमसे सँभाल करती है, ३–पतिव्रता होती है, ४–पतिसे प्राप्त की हुई सम्पत्तिकी रक्षा करती है और ५–समस्त गृहकार्योंमें तत्पर रहती है।

उत्तर दिशा अर्थात् मित्रमण्डलकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—१–उन्हें प्रदान करने योग्य वस्तु देना, २–उनके साथ मीठा बोलना, ३–उनके सहयोगी बनना, ४–

उनके साथ समताका बर्ताव करना और ५—निष्कपट व्यवहार करना। इन पाँच अङ्गोंसे पूजित मित्रमण्डल पाँच प्रकारसे अनुग्रह करता है—१—अचानक संकट आ पड़नेपर उसकी रक्षा करते हैं, २—ऐसे अवसरपर उसकी सम्पत्तिकी भी रक्षा करते हैं, ३—संकटमें घबड़ा जानेपर उसे धीरज देते हैं, ४—विपत्तिकालमें छोड़कर नहीं जाते और ५—उसके बाद उसकी सन्ततिका भी उपकार करते हैं।

नीचेकी दिशा अर्थात् सेवकोंकी पूजाके पाँच अङ्ग हैं—१—उनकी शक्ति देखकर तदनुसार काम लेना, २—पर्याप्त वेतन देना, ३—बीमार पड़नेपर देख-भाल करना, ४—उत्तम भोजन देना और ५—समय-समयपर उत्तम कामके बदलेमें उन्हें पुरस्कार देना। इन पाँच अङ्गोंसे सत्कृत सेवक अपने स्वामीपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—स्वामीके उठनेसे पहले उठते हैं, २—स्वामीके सोनेके बाद सोते हैं, ३—स्वामीके सामानकी चोरी नहीं करते, ४—उत्तम प्रकारसे काम करते हैं और ५—स्वामीका यशोगान करते हैं।

ऊपरकी दिशा अर्थात् साधु-ब्राह्मणोंकी पूजाके भी पाँच अङ्ग हैं १—शरीरसे उनका आदर करना, २—वाणीसे आदर करना, ३—मनसे आदर करना, ४—भिक्षा लेने आवें तब उनका किसी प्रकार भी अपमान न करना और ५—उन्हें उपयोगी वस्तु देना। इन पाँच प्रकारसे पूजित साधु-ब्राह्मण गृहस्थपर पाँच प्रकारसे अनुग्रह करते हैं—१—उसको पापसे बचाते हैं, २—उसे कल्याणकारी मार्गपर ले जाते हैं, ३—प्रेमपूर्वक उसपर दया करते हैं, ४—उसे उत्तम धर्म सिखाते हैं और ५—शङ्का-निवारण करके उसके मनका समाधान करते हैं एवं उन्हें स्वर्गका मार्ग दिखाते हैं।

दान, प्रियवचन, अर्थचर्या (उपयोगी बनना) और समानता—सबको अपने समान समझना—ये चार लोकसंग्रहके साधन हैं। माता-पिता यदि इन साधनोंका उपयोग न करते तो केवल जन्म देनेमात्रसे पुत्र उनका गौरव नहीं मानता। विज्ञ पुरुष इन चार साधनोंका उपयोग करके जगत्में ऊँचा पद प्राप्त करते हैं।

विनय

सँभारहु अपनेको गिरिधारी।
मोर मुकुट सिर पाग पेंच कसि राखहु अलक सँवारी॥
हिय हलकति बनमाल उठावहु मुरली धरहु उतारी।
चक्रादिकन सान दे राखौ कङ्कन फँसन निवारी॥
नूपुर लेहु चढ़ाइ किङ्किनी, खींचहु करहु तयारी।
पियरो पट परिकर कटि कसिकै बाँधौ हो बनवारी॥
हम नाहीं उनमें जिनको तुम सहजहि दीनो' तारी।
बानो जुगवौ नीकों अबकी 'हरीचन्द्र' की बारी॥

—भारतेन्दु हरिश्चन्द

अमृत-बिन्दु

किसीका भी बुरा न चाहना ही साधकका सर्वप्रथम व्रत होना चाहिये ।

जो साधक अपने दोषोंको मिटाना चाहता है, उसे दूसरेके दोषोंकी ओर नहीं देखना चाहिये । दूसरोंके दोष देखनेसे अपने दोष पुष्ट होते हैं और दोषोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे नये-नये दोष उत्पन्न होते हैं ।

स्वरूपको पहचाननेका तरीका है—नित्य और अनित्यका विवेचन और जाने हुए असत्‌का त्याग ।

'सब कुछ वासुदेव ही है, वासुदेवके सिवा कुछ है ही नहीं'—इसका जितना भी मनन किया जाय, विचार किया जाय, उतना ही उत्तम है । सब साधन इस एकमें आ जाते हैं ।

साधक जब अपने दोषोंको दोषरूपसे देखकर उनके दुःखसे दुःखी हो जाता है, उनका रहना उसे असह्य हो जाता है, तो फिर उसके दोष ठहर नहीं सकते । भगवान्‌की कृपा उन दोषोंका शीघ्र ही नाश कर देती है ।

प्रारब्धका काम तो सुखदायी-दुःखदायी परिस्थितिको उत्पन्न करदेना मात्र है । उसमें सुखी-दुःखी होना अथवा न होना—इसमें मनुष्यमात्र स्वतन्त्र है ।

प्रभु जो कुछ करते हैं और करेंगे, उसीमें मेरा हित है—ऐसा विश्वास करके हर परिस्थितिकी प्राप्तिमें निश्चिन्त रहना चाहिये ।

भोगोंकी प्राप्ति इच्छासे नहीं होती, ये तो कर्मफलके रूपमें मिलते हैं और जैसे-जैसे मिलते हैं, इच्छाको बढ़ाते रहते हैं । सुखभोगकी इच्छा कभी भी पूरी नहीं हो सकती । इसलिये इनकी इच्छाका त्याग करना ही श्रेष्ठ है । त्यागसे तत्काल शान्तिकी प्राप्ति होती है ।

साधक जितना जानता है, उतना मानकर उसका पालन करना आरम्भ कर दे तो आगेका आवश्यक जानकारी स्वतः प्राप्त हो जाती है; यह भगवत्कृपाकी महिमा है ।

जबतक भोगोंकी लालसा हृदयमें भरी रहेगी, तबतक भगवान्‌को हृदयमें स्थान कैसे मिलेगा ? अतः पहले भोगोंकी कामनाका त्याग करके भगवान्‌से मिलनेकी लालसाको प्रबल बनाना चाहिये ।

हम इन्द्रियोंके वशमें होकर वह काम भी कर लेते हैं, जिसको हम स्वयं ही बुरा समझते हैं । यही अपने ज्ञानका निरादर है ।

हमारे पास जो भी वस्तु, योग्यता, सामर्थ्य आदि है, वह सब समाजकी ही है, अपनी नहीं । हमसे भूल यह होती है कि उस वस्तु आदिको अपनी मानकर उससे सुख भोगने लगते हैं । इससे हमें विवश होकर दुःख भोगना पड़ता है ।

संसारकी सेवा किये बिना कर्म करनेका राग निवृत्त नहीं होगा ।

अभ्यासका नाम भजन नहीं है, भगवान्‌की स्मृति और प्रियताका नाम भजन है । भगवान्‌को अपना माने बिना स्मृति और प्रियता जाग्रत् नहीं होगी ।

परमात्मप्राप्तिके जितने भी साधन हैं, उन सब साधनोंको परमात्माकी प्राप्तिसे भी बढ़कर आदर देना चाहिये ।

साधनमें विशेष आदरबुद्धि होनेसे साधन तेज होता है । साधनको जितना आदर देना चाहिये, उतना आदर न देनेसे ही साधनमें शिथिलता आती है और सफलता भी प्राप्त नहीं होती ।



पढ़ो, समझो और करो

साथी हाथ बढ़ाना

पूना और बम्बईमें अधिक अन्तर नहीं है। अन्तर इतना ही है कि पूना है शान्त और स्वस्थ, जबकि बम्बई अलमस्त और अस्वस्थ। तूफानमें चक्कर काटते हुए पत्तेकी भाँति लोग वहाँ दौड़ते रहते हैं। लोकल ट्रेनें बम्बईकी प्राण ही हैं। लोग जब 'आठ बत्तीसवाली पकड़नी है।' 'पाँच-पच्चीसवाली लगती है, चली गयी।' 'साढ़े सातवालीकी आज आशा नहीं है'—ऐसा बोलते हैं, तब कितना अजीब लगता है।

छुट्टियोंमें बम्बई गया था। दादर स्टेशनपर बैठा था। कहीं जानेकी शीघ्रता नहीं थी, इसलिये निश्चिन्तताके साथ घड़ीकी सुइयोंकी तरह दौड़ती हुई भीड़को देखनेका आनन्द ले रहा था। पूनामें यह सब कहाँ देखनेको मिलता है।

'साब ! पोलिश'—मेरे रंगमें भंग हुआ।

मैंने मना किया, परन्तु फिर न जाने क्या सोचकर 'चमक बढ़ाओ' वाली बात कहकर अपना जूता आगे बढ़ा दिया। पालिशवालेने अपने साधन नीचे रखे और मैं भी पालिश करनेवाले स्टैण्डके पास ही स्थितप्रज्ञ की तरह खड़ा हो गया।

उसने काम प्रारम्भ तो किया, परंतु उसमें मजा नहीं आ रहा था। बम्बईवालोंकी स्फूर्ति उसमें नहीं थी। जब अधिक देर खड़ा रहना सहन-शक्तिके बाहर हो गया तब मुँहसे निकल गया—'अरे भाई ! कैसे ठंडे दिमागसे काम करते हो। कुछ शीघ्रता करो।' वह मौन रहा। मुझे उसका मौन रहना अच्छा नहीं लगा। परंतु किया क्या जाय ? इतनेमें दूसरा पालिशवाला वहाँ आ गया। उसने इसको तुरंत अलग कर दिया और स्वयं काममें जुट गया। काम एकदम फटाफट। पहलेवाला गूँगेकी तरह एक ओर खड़ा रहा। मुझे ऐसा लगा कि यह अभी नया-ही-नया है। इसलिये ये बम्बईके उस्ताद पालिशवाले उसे अपने ढंगसे परेशान करते हैं।

पैसा किसे देने हैं, इसपर विचार करते हुए मैंने जेबमें हाथ डाला। मुझे लगा कि अभी इन दोनोंमें पैसोंके लिये झगड़ा या मारपीट होगी। 'समर्थहीका सब कुछ' इस सिद्धान्तके अनुसार मैंने बादमें आनेवाले पालिशवालेको पैसे दिये। उसने पैसे ले तो लिये, परंतु तुरन्त ही पहलेवालेको दे दिये। प्रेमसे पीठ थपथपायी और हाथ मिलाकर चल दिया। अब मैं थोड़ा स्वस्थ हुआ। मैंने उसको तुरन्त वापस बुलाया और सीधा प्रश्न किया—'यह क्या चक्कर है ?'

'साब, ये किशन तीन महीने पूर्व चलती लोकल ट्रेनसे बाहर गिर गया था। बहुत चोट आयी। पैरमें १८ से २० टाँके आये और हाथमें भी बहुत चोट आयी। बेचारा बच ही गया; नहीं तो वृद्धा माँ और पाँच बहिनोंका क्या होता—इधर-उधर भटकती फिरतीं।'

अब किशन पहलेकी भाँति स्फूर्तिसे काम नहीं कर सकेगा, यह सोचकर स्टेशनपर रहनेवाले हम सब साथियोंने तय किया कि प्रत्येक अपने एक जोड़ी जूतेकी आय नित्य किशनको दिया करेंगे और अवसर पड़नेपर उसके काममें सहायता भी करेंगे।' दूसरे पालिश करनेवालेकी बात सुनकर मैं तो चकित ही रह गया।

किशन तथा उसके साथी स्टेशनपर आने-जानेवाले सब यात्रियोंको मानो संदेश दे रहे हों—'साथी हाथ बढ़ाना'।

इस बातको कितना समय हुआ, स्मरण नहीं। परंतु जब भी मैं बम्बई या विशेषकर दादर स्टेशनपर जाता हूँ, तब किशन और उसके साथी स्मरण हो ही आते हैं। दादर स्टेशनकी अपार भीड़में भी मेरी आँखें किशनको ढूँढ़ती रहती हैं। (अखण्ड-आनन्द)

—विजय रतिलाल पीर

(२)

जाको राखै साइयाँ मार सकै नहिं कोय

(श्रीसीताराम-नाम-जपकी विचित्र महिमा)

घटना मार्च १९८०की है। उन दिनों मैं डाकघरमें निरीक्षकके पदपर कार्यरत था। डाकघरके किसी कार्यसे मुझे लखनऊ जाना पड़ा। लखनऊ-झाँसी एक्सप्रेससे दिनाङ्क २७-३-८०को वापस अपने घर आ रहा था। उक्त ट्रेन प्रातः लखनऊसे चलकर दोपहर लगभग दिनमें १२ बजे चौराह रेलवे स्टेशनपर पहुँची। वहाँ उतरकर मैंने नलपर हाथ-मुँह धोया और पुनः अपनी सीटपर बैठकर अपने साथ रखा हुआ भोजन करने लगा। उसी समय मेरी सीटके पास ही बैठा एक वृद्ध व्यक्ति अपना स्टीलका ग्लास लेकर पानीके लिये प्लेटफार्मपर उतरा। लेकिन नलपर प्यासोंकी लाइन लगी थी। इधर गाड़ी खुल जानेके कारण उसे पानी नहीं मिला। वह व्यक्ति वापस आकर अपनी सीटपर बैठ गया। उसके हाव-भावसे मुझे यह अहसास हुआ कि वह व्यक्ति बहुत प्यासा है। थोड़ी ही देर बाद गाड़ी अगले स्टेशनपर रुकी। जल-ग्रहणहेतु मैं फिर नीचे उतरनेको उद्यत हुआ। उसी समय मेरे सामने बैठा वह वृद्ध व्यक्ति भी अपना ग्लास लेकर नीचे उतरनेकी चेष्टा करने लगा। मैंने सोचा कि प्लेटफार्मपर नलपर प्यासोंकी लम्बी लाइन लग चुकी है तथा गाड़ी भी थोड़ी देर रुकती है, इस व्यक्तिको शायद यहाँ भी पानी न मिल सके; अतः मैंने उससे कहा—'चाचाजी! आप बैठिये, ग्लास मुझे दीजिये। मैं जल लेता आऊँगा।' उसने वैसा ही किया। मैं भी नलपर लगी लाइनके पीछे ग्लास लेकर खड़ा हो गया। मैं पानी पी ही रहा था कि ट्रेन सीटी देकर चल दी। ग्लासमें पानी लेकर जबतक मैं ट्रेनके पास आया तबतक उसकी गति तेज हो चुकी थी। मैंने फिर सोचा कि मैं अपने डिब्बेमें ही चढ़ूँ; क्योंकि एक तो वह बुड्ढा अति प्यासा था और दूसरे वह यह भी सोच सकता था कि मालूम नहीं कौन-सा आदमी मेरा स्टीलका गिलास लेकर चला गया! अतः मैं अपने ही डिब्बेकी प्रतीक्षा करने लगा। जब उक्त डिब्बा मेरे समक्ष आया तबतक गाड़ीकी गति काफी तेज हो चुकी थी। अब तो चढ़ना ही था। बायें हाथमें पानी भरा गिलास लिये दाहिने हाथसे दरवाजेपर लगा छड़ पकड़कर ट्रेनके साथ दौड़ने लगा। संयोगवश मेरा एक भी पैर ट्रेनके पावँदानपर नहीं पड़ा और मैं एक हाथसे छड़ पकड़े प्लेटफार्मपर दौड़ते हुए चढ़नेहेतु प्रयासरत रहा। गाड़ीकी गति और तेज होती गयी। इतनेमें मेरे बायें पैरका बूट जूता पावँदान व प्लेटफार्मकी दीवालके मध्य बुरी तरह फँस गया। चूँकि जूतेका फीता खुला हुआ था इसलिये पैर ऊपर खींचनेपर फँसा जूता निकलकर नीचे गिर गया। तत्पश्चात् मेरे दोनों पैर ट्रेनके पावँदान व प्लेटफार्मकी दीवालके बीच आ गया और अन्दर ही गिरता चला गया। एक स्वस्थ व्यक्ति डिब्बेके दरवाजेपर खड़ा था, उसने मुझे नीचे गिरते देखकर मेरी छड़वाली बाँह पकड़कर ऊपर खींचनेकी कोशिश की, लेकिन वह भी मेरे साथ ही नीचे गिरने लगा। अतः उसने मेरा हाथ छोड़कर खतरेकी जंजीर खींचने दौड़ा। इधर मैं नीचे खिंचता गया और पकड़े हुए छड़का अन्त हो जानेपर मैं ट्रेनके नीचे धड़ामसे गिर गया।

बायीं करवट गिरनेके कारण मेरा मुँह प्लेटफार्मकी दीवालकी तरफ पड़ा। मैं जिस रूपमें गिरा था उसी अवस्थामें प्लेटफार्मकी दीवालसे चिपका रहा। इस

समय मेरे सिरके ऊपर रेलगाड़ीके चलनेकी तूफ़ानी आवाज मुझे सुनायी पड़ रही थी। मेरी चेतना दुरुस्त रहते हुए भी मुझे यह नहीं मालूम है कि उस वक्त मेरी आँख बन्द थी या खुली। उसी क्षण मैं अचेतनावस्थामें हो गया। इसके बाद मैंने जो दृश्य देखा वह निहायत भयंकर था। मैंने स्पष्ट अनुभव किया कि चार यमदूत मुझे लेने आये हैं। वे चारों यमदूत दोनों रेल पटरीके बीच पूर्व-पश्चिम लाइनसे खड़े हैं। उनके ऊपरसे गाड़ी चल रही है। उन चारोंके सिर व पाँव नहीं थे। पीला कुरता व काला जैकेट पहने थे। पश्चिमवाला सबसे बड़ा था। उसके बाद तीनों क्रमसे छोटे थे। तत्पश्चात् मेरे सिरके ऊपर रेलगाड़ीकी चलनेकी तीव्र गतिकी समाप्तिका अनुभव हुआ और यह भी आभास हुआ कि ट्रेन मुझे पार करके कुछ दूरीपर खड़ी हो चुकी है। इतनेमें मुझे आकाशवाणीकी तरह आवाज सुनायी दी 'अब उठो गाड़ी पार हो चुकी।' तबतक यमदूत भी अन्तर्ध्यान हो चुके थे!

मैं जैसे ही उठकर प्लेटफार्मकी ऊँची दीवाल पकड़कर ऊपर चढ़नेको उद्यत हुआ तो देखा कि हजारोंकी संख्यामें आदमी मेरे सामने प्लेटफार्मपर यह पहचाननेके लिये खड़े हैं कि कौन व्यक्ति कट गया है। गार्ड भी लाशको निकलवानेकी मुद्रामें वहाँ आ गया। सभी लोग मुझे सुरक्षित देखकर दंग रह गये। मेरे प्लेटफार्मपर चढ़नेके पूर्व ही चार-पाँच नवयुवकोंने मुझे ऊपर ही उठा लिया और विजयी हुए खिलाड़ीकी तरह ऊपर ही लुकाते रहे तथा उस परम पिता परमात्माकी जय-जयकार बोलते रहे। जब मुझे जमीन पर उतारा गया तो तुरंत मुझे उस पानीवाले गिलासकी याद आयी जो ट्रेनके नीचे गिरते समय पता नहीं कब हाथसे छूटकर गिर गया था। एक सज्जनने गिलास लाकर मुझे दिया। गार्डने ले जाकर मुझे मेरे डिब्बेमें बैठाया। गाड़ी पुनः रवाना हुई।

मेरे डिब्बेमें सभी सवारियाँ मुझे देखने-हेतु टूट पड़ीं। बहुत दूर तक मेरा दिमाग संतुलित नहीं था।

शामको गाड़ी झाँसी स्टेशनपर रुकी। मैं डिब्बेसे नीचे उतरा। घर पहुँचनेपर मेरे वृद्ध पिता तथा मेरे छोटे बच्चे आनन्दमें ही मिले। पिताजीसे अपनी पूरी घटना सुनाई और बताया कि मैं आज तो करुणाके सागर परमपिता प्रभुकी कृपासे ही मौतके मुँहसे निकलकर आ सका हूँ। मेरी पत्नी भी सब कथा बगलके कमरेमें बैठी सुन रही थी। सभी लोग वहाँ जमा हो गये। सबकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी। सबने मिलकर दीनदयालु प्रभुको अनेक धन्यवाद दिये। कई माहतक मेरा मस्तिष्क असंतुलित बना रहा। मेरे वृद्ध पिताने उसी समय यह उद्गार प्रकट किया कि—**'जाको राखै साइयाँ मारि सकै नहिं कोय'।** करुणा वरुणालयके हाथ बड़े लम्बे हैं। जिसकी वह रक्षा करना चाहता है उसका बाल बाँका कोई नहीं कर सकता।

मुझे तो उसी समयसे यह संसार असार प्रतीत होने लगा। मेरे मनमें यह बात आने लगी कि घर-बार नौकरी आदि छोड़कर कहीं एकान्तमें भगवान्का भजन करूँ। पर पारिवारिक दायित्व और जिम्मेदारियोंको देखते हुए मैंने तत्काल ऐसा निर्णय नहीं लिया। बचपनसे ही मैं 'सीताराम' नाम मनमें जप किया करता था। आज भी मुझे यह दृढ़ विश्वास है कि उपर्युक्त दुर्घटनामें मेरे आराध्य श्रीसीतारामने ही मुझे बचाकर मेरा पुनर्जन्म देकर अपना निर्मल भक्तियोग प्रदान करते हुए अपनी कृपादृष्टिकी चिरस्मरणीय दृष्टि की है। मुझे ऐसा लगता है कि इस दुर्घटनामें भी मेरे जीवनका मंगल-विधान निहित था। —मिट्ठूलाल वर्मा

मनन करने योग्य

(१)

तैरना जानते हो या नहीं ?

एक नवशिक्षित शहरीबाबू नदीमें नावपर जा रहे थे। उन्होंने आकाशकी ओर ताककर केवटसे कहा—'भैया, तुम नक्षत्र-विद्या जानते हो?' केवट बोला—'बाबूजी। मैं तो नाम भी नहीं जानता।' इसपर बाबूने हँसकर कहा—'तब तो तुम्हारा चौथाई जीवन व्यर्थ ही गया।' कुछ देर बाद बाबूने फिर पूछा—'भाई। तुमने गणित पढ़ी है?' केवटने कहा—'बाबू। मैंने तो नहीं पढ़ा।' बाबू बोले—'तब तो तुम्हारा आधा जीवन मुफ्तमें गया।' केवट बेचारा चुप रहा। थोड़ी देर बाद वहाँके दोनों ओर पेड़ोंकी पंक्तियोंको देखकर बाबू बोले—'तो भैया! तुम वृक्ष-विज्ञान-शास्त्र तो जानते ही होगे?' केवट बोला—'बाबूजी! मैं तो कोई शासतर-वास्तर नहीं जानता—नाव खेकर किसी तरह पेट भरता हूँ।' बाबूजी हँसकर बोले—'तब तो भैया! तुम्हारे जीवनका तीन चौथाई हिस्सा बेकाम ही बीता।' यों बातचीत चल रही थी कि अकस्मात् जोरोंकी आँधी आ गयी। नाव डगमगाने लगी। देखते-ही-देखते नावमें पानी भर गया! केवटने नदीमें कूदकर तैरते हुए पूछा—'बाबूजी! आप तैरना जानते हैं या नहीं?' बाबूने कहा—'तैरना जानता तो मैं भी कूद नहीं पड़ता। भैया! बता, अब क्या होगा।' केवट बोला—'बाबूजी! अब तो सिवा डूबनेके और कोई उपाय नहीं है। आपने सारी विद्याएँ पढ़ीं, पर तैरना नहीं जाना, तब सभी कुछ व्यर्थ है। अब तो भगवान्‌को याद कीजिये।' भवसागरसे तरनेकी भजनरूपी विद्या ही सच्ची विद्या है। इसे न पढ़कर जो केवल लौकिक विद्याओंके पण्डित बनकर अभिमान करते हैं, उन्हें तो डूबना ही पड़ता है।

(२)

शान्त ही सच्चा वीर है

प्रसिद्ध बादशाह हारुन-अन-रशीदके एक लड़केने एक दिन आकर अपने पितासे कहा कि 'अमुक सेनापतिके लड़केने मुझको माँकी गाली दी है।' हारुनने अपने मन्त्रियोंसे पूछा कि 'इस मामलेमें क्या करना उचित है?' किसीने कहा 'उसे तुरन्त मार डालना चाहिए', किसीने कहा 'उस बदमाशकी जीभ निकाल लेनी चाहिये', किसीने कहा 'उसे दण्ड देकर देश निकाला दे देना चाहिये।' इसपर हारुनने अपने पुत्रसे कहा—'बेटा! तू यदि अपराधीको क्षमा कर सके तब तो सबसे अच्छी बात है। क्रोधका कारण उपस्थित रहनेपर भी जो पुरुष शान्त रहकर बातचीत कर सकता है, वही सच्चा वीर है। यद्यपि तू भी उसे वही गाली दे सकता है, परन्तु यह क्या तुझे शोभा देगा?'

(३)

शास्त्रीजीकी सहनशीलता

पं० विश्वनाथ शास्त्रीजी बंगालके प्रसिद्ध पण्डित थे। एक बार किसी विषयको लेकर उनका कुछ पण्डितोंसे शास्त्रार्थ हो रहा था। विरुद्ध पक्षकी हार होने लगी, तब उस पक्षके एक पण्डितने नाक छिनककर शास्त्रीजीके मुँहपर डाल दिया? शास्त्रीजीने तुरंत मुँह साफ करके हँसते हुए कहा—"यह तो क्षणभरके लिये अप्रासाङ्गिक विषयान्तरकी बात हो गयी। अब इसे भूलकर, चलिये मूल विषयपर ध्यान दीजिये।" शास्त्रीजीकी इस सहनशीलता और क्षमाको देखकर विरुद्ध पक्षवालोंने लज्जित होकर अपनी हार स्वीकार की।

सिक्ख भारतीय दर्शन एवं हिन्दू-संस्कृतिके अभिन्न अङ्ग

भारत एक विशाल देश है, इसकी मूल संस्कृतिके एक होनेपर भी यहाँ विभिन्न धर्म, सम्प्रदाय, जातियाँ और मत प्रचलित हैं। पर इस अनेकतामें भी एकरूपताका दर्शन निरन्तर होता रहता है। यहाँके ऋषि-महर्षि, सन्त मुनि, गुरुजनोंने समय-समयपर जन-सामान्यको आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन प्रदान किया है। इस देशमें कुछ ऐसे महापुरुषोंका प्रादुर्भाव हुआ जिन्होंने परम्परागत रूढ़ियोंके अन्तर्गत समाजमें उत्पन्न कुरीतियोंको समाप्त करनेके लिये कुछ नये पन्थ भी चलाये तथा स्वयं और अपने अनुयायियोंद्वारा इसका प्रचार-प्रसार किया और बहुत अंशोंमें उन्हें सफलता भी मिली।

बौद्धधर्म-जैनधर्म आदि धर्मोंका आविर्भाव इसी रूपमें हुआ। एक समय ऐसा आया जब हिन्दूधर्मकी प्राचीन परम्पराओंसे कुछ लोग दूर होते जा रहे थे। बौद्धधर्मका प्रभाव भी समाजमें क्षीण हो चुका था। लोग पथभ्रष्ट हो रहे थे। देशपर विदेशियोंके आक्रमण-पर-आक्रमण होने लगे। बलात् शिखा-सूत्रका त्याग कराकर धर्म-परिवर्तन कराया जाने लगा था। ऐसी विषम परिस्थितिमें सिक्ख सम्प्रदायके प्रवर्तक गुरु नानकका प्रादुर्भाव हुआ। गुरु नानकका जन्म सं० १५२६में लाहोर जिलाके अन्तर्गत तलवंडी (नानकाना साहब) नामक स्थानपर सनातनी विचारधारामें विश्वास रखनेवाले एक हिन्दू परिवारमें ही हुआ। बाल्यावस्थासे ही वे शान्त, सौम्य, गम्भीर और एकान्तप्रिय थे—गुरु नानक सदैव हरिचिन्तनमें लवलीन रहते थे। सांसारिक रीति-रिवाज और व्यवहारमें इनकी रुचि नहीं थी। एक बार गुरुनानकके अन्तःकरणमें यह विचार दृढ़ हुआ कि अन्तःप्रकाशसे ही जगत्के अन्धकारका विनाश किया जा सकता है। इस विचारधाराने जोर पकड़ा और ये सर्वप्रथम सं० १५५४में देशाटनके लिये प्रचार-यात्रामें निकल पड़े। द्वेष, ईर्ष्या, वैर, विरोध आदिकी प्रचण्ड अग्निसे जलते हुए जगत्को ईश्वरके अमृत नामकी वर्षाद्वारा शान्ति-प्रदान करना ही आपके जीवनका लक्ष्य था। २५ वर्षोंतक भ्रमण करनेके बाद गुरु नानक करतारपुरमें, जिसे उन्होंने स्वयं बसाया था, निवास किया तथा भक्तियुक्त सत्सङ्गके सदावर्तके साथ-साथ अन्नका लंगर भी चलाया। आपकी उच्चारण की हुई तथा रचित सारी वाणी पञ्चम गुरु श्रीगुरुअर्जुनदेवजी द्वारा श्रीगुरुग्रन्थ साहिबमें संकलित हुई है। निम्नलिखित पंक्तियोंमें गुरु नानकके भावोंका दिग्दर्शन स्पष्टरूपसे होता है—

सो ब्रह्मणु, जो बिंदे ब्रह्मु। जपु-तपु संजमु कमावै करमु॥
सील संतोख का राखै धरमु। बन्धन तोड़ै होवै मुकतु॥
सोई ब्राह्मण पूजण जुगतु।

(गुरुग्रन्थ पृष्ठ १४४१)

गुरु नानककी दृष्टिमें सच्चा ब्राह्मण वह है, जो ब्रह्मके साथ तादात्म्य स्थापित कर चुका हो। जप, तप और संयमपूर्ण कर्म करता हो तथा शील और संतोषको जिसने धारण कर रखा हो। गुरु नानकजी कहते हैं कि जिसने अपने लौकिक बन्धनोंको तोड़ दिया हो, वही ब्राह्मण वस्तुतः मुक्त है और मेरे लिये पूज्य है।

गुरु नानकदेवकी दृष्टिमें अच्छा गुरु, परम शिक्षक वही है जो सबको एक-दूसरेके साथ जोड़ देता है। सबके हृदयसे घृणा दूरकर सबको मिलाता है—

''नानक सतिगुरु ऐसा जीणीए जो सबसे लिए मिलाइ जीउ''

सिक्खधर्म यद्यपि ज्ञानके सभी स्रोतोंका सम्मान करता है, परंतु मुख्यरूपसे इस धर्मका प्रेरणास्रोत और आधार ''श्रीगुरुग्रन्थसाहब''के नामसे प्रसिद्ध है। 'श्रीगुरुग्रन्थ''की आन्तरिक संरचनाको देखनेपर यह भलीभाँति प्रकट हो जाता है कि इस महान् ग्रन्थके

प्रणेता पाँचवें गुरु अर्जुनदेवका ध्येय सर्वधर्म-सद्भावनाको स्थापित करना ही था। इसलिये इस महान् ग्रन्थमें छः सिक्ख गुरुजनोंकी वाणियोंके साथ-साथ जयदेव, नामदेव, कबीरदास, रविदास, मीराबाई, सूरदास आदि तत्कालीन भारतके प्रमुख सन्त-महात्माओंकी अमृत-वाणियाँ भी संगृहीत हैं, जो हिन्दू-धर्म और उसकी विभिन्न भावनाओंका प्रतिनिधित्व करती हैं।

सिक्ख-गुरुओंकी परम्परामें पाँचवें गुरु अर्जुनदेवने ही अमृतसरमें स्वर्ण-मन्दिरका निर्माण कराया, जो आज भी सिक्ख समाजका सर्वमान्य तीर्थस्थल है। इस मन्दिरकी जो मुख्य विशेषता है वह यह है कि यह सभी भारतीयोंके लिये खुला है। इसी स्थानपर चतुर्दिक्में छठे गुरु हरगोविन्दजीद्वारा बनाया गया कौलसर नामक एक पवित्र सरोवर है जिसे अमृत-सरोवर कहते हैं। इसमें आज भी सिक्ख श्रद्धापूर्वक स्नान करते हैं।

सिक्खोंके अन्तिम तथा दसवें गुरु हुए हैं परम देशभक्त, गोभक्त श्रीगुरुगोविन्दसिंहजी। इन्होंने सिक्ख-धर्मकी परम्परामें एक इतिहासका निर्माण किया। इनके पिता श्रीगुरुतेगबहादुरजी नवें गुरु थे। कहते हैं कि एक समय ऐसा आया जब इस देशके निवासी स्वयंको हिन्दू कहनेमें भी घबड़ाने लगे। शिखा-सूत्रकी रक्षा करना भी असम्भव-सा हो गया था। बलात् धर्म-परिवर्तन कराया जाने लगा। तत्कालीन मुगल बादशाहको यह मालूम हुआ कि यदि गुरु तेगबहादुरजीका धर्म-परिवर्तन करा दिया जाय तो इनके सभी अनुयायी और देशकी हिन्दू जनता बहुत बड़ी संख्यामें धर्म-परिवर्तन करनेके लिये तैयार हो जायगी। गुरुजीको धर्म-परिवर्तन करानेके अनेक उपाय किये गये। उन्हें कष्ट भी बहुत दिया गया। साम, दाम, दंड, भेद सभी उपाय निष्फल हुए। सफलता नहीं मिली। अन्तमें **"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"** गीताजीके इस सिद्धान्तको व्यवहाररूपमें चरितार्थ करते हुए अपने धर्म और हिन्दुत्वकी रक्षाके लिये खुशी-खुशी अपना सीस कटवाकर उन्होंने ११ नवम्बर १६७५को अपने जीवनकी कुर्बानी कर दी! कहते हैं कि हिन्दू-संस्कृतिकी रक्षाके लिये बादका सिक्खसमाज सन्त सिपाहीके रूपमें अवतरित हुआ; जिसने सिद्धान्त और व्यवहारको एक-रूपता देते हुए भारतमें एक नये इतिहासका निर्माण किया।

गुरु अर्जुनदेवजीने इस नये इतिहासमें कुर्बानीकी पहली नींव रखी, जिसे गुरु तेगबहादुरने सुदृढ़ किया। बादमें तो गुरु गोविन्दसिंह, उनके चारों बच्चे, माता, भाई मनीसिंह, बन्दा बहादुर उसके साथी और अनेक सिक्खोंने अपने प्राणोंकी बाजी लगा दी, पर देशवासियोंके इस स्वाभिमान जनेऊको उतरने नहीं दिया। श्रीगुरुगोविन्दसिंहजीके नन्हे दो सुकुमार बालकोंको मुसलमान न बननेके अपराधमें सरहिन्दके नव्वाबने बड़ी निर्दयताके साथ दीवारमें जिन्दा चुनवा दिया था। क्या इसे हम इस देशके नये इतिहासका आरम्भ नहीं कहेंगे? है कोई मिसाल संसारके इतिहासमें इस प्रकारकी कुर्बानीकी और बलिदानके कहानीकी? इस देशके सिक्ख-समाजका इतिहास इतना गौरवशाली है, जिसके समक्ष आज भी करोड़ों-करोड़ देशवासियोंका सिर श्रद्धासे नतमस्तक हो जाता है।'

पर कभी-कभी ऐसे पवित्र समुदायमें भी कुछ ऐसे तत्त्व प्रवेश कर जाते हैं, जो धर्मके नामपर लोगोंमें उन्माद फैलाकर उन्हें भ्रमित करनेका प्रयास करते हैं तथा भोली-भाली जनताको समुचित मार्गसे पथ-भ्रष्ट करना चाहते हैं। ऐसे तत्त्वोंसे सतर्क और सावधान रहना चाहिये। सिक्ख-सम्प्रदायके गुरुजनोंने तो त्याग, तपस्या, संयम और सद्भावका संदेश संसारको प्रदान किया है। गुरु नानकदेवजी अपनी वाणीमें कहते हैं

'मन जीते जगजीत' अपने मनको वशमें करनेपर ही सारा जगत् वशमें हो सकता है। कथा, कीर्तन, भजन, व्याख्यानको सिक्ख धर्म मनको मजबूत करनेका तथा सही दिशामें ले चलनेका साधन मानता है। श्री-गुरुगोविन्दसिंहजी भगवान्से प्रार्थना करते हैं कि 'हे प्रभु ! मैं अपने मनको सही मोड़ देनेके लिये और उसे उचित मार्गमें शक्तिवान् बनानेके लिये सर्वदा आपके गुणोंका गान करता रहूँ। **'गवीए सगीए, मन रक्खिए भाउ'** के अनुसार अपनेको ऊँचा उठाऊँ। आपकी महिमा-वर्णनका यह लोभ निरन्तर मुझे बना रहे।

इस प्रकार भारतीय दर्शनके उच्च आदर्शोंका दिग्दर्शन हमें इन गुरुजनोंकी वाणीमें प्राप्त होता है। हिंदूधर्म और सिक्ख धर्मकी एकरूपताका सबसे बड़ा प्रतीक अमृतसरका स्वर्णमन्दिर और वाराणसीका श्री-काशीविश्वनाथ मंदिर है। पंजाबके महाराजा श्रीरणजीत-सिंहने जहाँ एक ओर सिक्खोंके सर्वमान्य धर्मस्थल स्वर्णमन्दिरमें सोना लगाया वहाँ दूसरी ओर भारतके करोड़ों-करोड़ हिन्दुओंकी श्रद्धाका केन्द्र श्रीकाशी-विश्वनाथ मन्दिरके शिखरपर इक्कीस मन सोना चढ़ाया जिस स्वर्ण शिखरके दर्शन आज भी वहाँ होते हैं।

इस प्रकार भारतवर्षका इतिहास हिन्दू और सिक्खको सगे भाईके रूपमें मानता है जिसका एक ही दर्शन है और एक ही संस्कृति है। गुरुवाणीका यह वाक्य **'सरबत्त दा भला'** अर्थात् सबका भला हो—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत् ॥

इस वाक्यका स्मरण दिलाता है।

—राधेश्याम खेमका

आशीर्वाद

आशीर्वाद माँगनेसे नहीं मिलते। वे तो बुजुर्गोंकी सेवा करने एवं उनके आह्लादित हृदयके द्रवित होनेपर प्राप्त होते हैं।

गुरुजनोंके द्रवित हृदयसे निकले हुए शब्द कल्याणकारी ही होते हैं।

गुरुदेव सांदीपनिने तो श्रीकृष्णसे गुरुदक्षिणाके रूपमें विद्याके वंशकी वृद्धि ही माँगी थी, परन्तु गुरुपत्नीकी आकाङ्क्षा सागरमें डूबकर मर गये पुत्रको पुनर्जीवित करनेकी थी, ताकि बिन्दु-वंशका नाश न हो। श्रीकृष्ण तुरन्त दौड़कर समुद्रके पास गये और गुरुपुत्रको गुरुपत्नीके सामने ले आये। गुरुपत्नीके समक्ष उस बालकको प्रस्तुत करते समय श्रीकृष्णने जिस नम्रताका आदर्श उपस्थित किया, उसे देखकर गुरुपत्नीका हृदय गद्गद हो गया और उस द्रवित हृदयसे आशीर्वादके निर्झर फूट पड़े, श्रीकृष्ण ! तेरी हमेशा विजय हो। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि तेरे घरमें लक्ष्मी, जिह्वापर सरस्वती और जगत्में कीर्ति बढ़ती ही जाय, बढ़ती ही जाय।

बताओ,हृदयके आशीर्वाद तो इसी रीतिसे मिलते हैं न ?

इसी प्रकारके आशीर्वाद ही फलते हैं।

कल्याणके सभी ग्राहक महानुभावोंके लिये आवश्यक एवं पालनीय बातें।

१—गीताप्रेसके अन्तर्गत 'पुस्तक-विक्रय-विभाग' एवं 'कल्याण व्यवस्था-विभाग' दोनों बिल्कुल अलग-अलग हैं। एक-दूसरेकी व्यवस्था भी भिन्न है। अतएव उपर्युक्त दोनों विभागोंके लिये रुपये भेजनेवाले सज्जनोंसे निवेदन है कि वे सम्मिलित रुपये न भेजकर अलग-अलग रुपये सुविधानुसार मनीआर्डर या ड्राफ्टसे भेजनेकी कृपा किया करें। ऐसा होनेपर उनके रुपयोंकी व्यवस्था शीघ्र होगी एवं हमारी कठिनायी भी कम हो जायगी।

गीताप्रेस-पुस्तक-विक्रय-विभागका पता इस प्रकार है—

'व्यवस्थापक, पुस्तक-विक्रय-विभाग, पो० गीताप्रेस २७३००५ (जिला गोरखपुर) (उ० प्र०)।

इसी प्रकार कल्याणके लिये पता है—व्यवस्थापक, कल्याण व्यवस्था-विभाग, पो० गीताप्रेस २७३००५ (जिला गोरखपुर) (उ० प्र०)।

२—ग्राहक महानुभावोंको कल्याण ठीकसे मिल सके इसके लिये आवश्यक है कि उनका पता स्थायी हो। किंतु इसके विपरीत कई ग्राहकोंके पते वर्षभरमें चार-पाँच बार बदल जाते हैं जिससे हमारे ग्राहक-रजिस्टरमें उनके लिये सुरक्षित पन्ना गन्दा हो जाता है, तथा उन्हें कल्याण मिलनेमें भी कठिनायीका सामना करना पड़ता है। इसके अलावा ऐसे पतोंको हाथसे लिखकर भेजनेमें अशुद्धिकी भी आशंका रहती है। इसलिये निवेदन है कि ग्राहक महानुभाव अपना पता स्थायी तौरपर ही हमें अंकित करवायें। पता बदलनेकी सूचना देते समय ग्राहक-संख्या, पुराना तथा नया पता हिन्दी या अंग्रेजीमें बड़े-बड़े एवं साफ-साफ अक्षरोंमें लिखना चाहिये। अत्यन्त आवश्यक होनेपर ही अपने पते बदलें। हम ग्राहकोंके पतोंकी स्टेंसिल कटवाकर रखते हैं, उसमें बदलनेकी गुंजाइश नहीं रहती है; अतः पुराने पतोंपर अङ्क चले जानेकी सम्भावना बनी रहती है।

३—ग्राहक महानुभाव मनीआर्डर भेजते समय मनीआर्डर-कूपनपर अपना पता इतना अस्पष्ट लिखते हैं, जो हमारे कार्यकर्ताओंके द्वारा बहुत चेष्टा करनेपर भी शुद्ध रूपसे पढ़ा नहीं जा सकता। फलस्वरूप ऐसे ग्राहकोंको भेजे गये पत्र या रजिस्ट्री पैकेट लौटकर वापस आ जाते हैं, जिससे ग्राहकोंको असन्तोष होता है तथा संस्थाकी आर्थिक क्षति होती है। अतएव ग्राहकोंसे बहुत आवश्यक निवेदन है कि मनीआर्डर कूपनपर अपनी ग्राहक-संख्या लिखते हुए सुन्दर एवं बड़े अक्षरोंमें अपना पता अवश्य लिखा करें। कई ग्राहक मनीआर्डर-कूपनपर पता बिल्कुल ही नहीं लिखते। उनसे भी हमारा विशेष अनुरोध है कि अपना पता एवं ग्राहक-संख्या अवश्य लिखा करें। कल्याणके जो नये ग्राहक बनना चाहते हैं उन्हें चाहिये कि मनीआर्डर कूपनपर 'नया ग्राहक' लिखकर अपना पता एवं संदेश अवश्य स्पष्ट अक्षरोंमें लिखें।

जयपुरके कल्याणके ग्राहकोंके लिये विशेष निवेदन

अब आगामी वर्ष जनवरी-(१९८५) से जयपुरके ग्राहकोंके लिये कल्याण जयपुरसे ही वितरित करनेकी स्थायी व्यवस्था निश्चित की गयी है। इससे दो लाभ हैं; प्रथम यह कि जयपुरके ग्राहकोंको विशेषाङ्क शीघ्र एवं अच्छी हालतमें प्राप्त होगा, दूसरा लाभ यह है कि हमारे अधिकृत विक्रेता अपने आदमियोंसे ग्राहकोंको उनके घरोंपर जनवरीका विशेषाङ्क एवं प्रतिमास प्रकाशित होनेवाले साधारण अङ्क पहुँचा देंगे। इस वितरण-व्यवस्थामें कोई त्रुटि नहीं होगी, ऐसा उन्होंने स्वीकार किया है। हमारे अधिकृत विक्रेताका पता इस प्रकार है—

श्रीसंतोष कुमारजी अग्रवाल, श्रीगीता-रामायण-प्रचार-केन्द्र, ३४ बुलियन बिल्डिंगके अन्दर, हल्दियोंका रास्ता, जौहरी बाजार, जयपुर ३०२००३।

माननीय ग्राहकोंसे निवेदन है कि आगामी वर्षका कल्याणका वार्षिक मूल्य हमें सीधे न भेजकर उपर्युक्त पतेपर ही जमा करवानेकी कृपा करेंगे। आगामी वर्षका मूल्य २४.०० (चौबीस रुपये) ही रक्खा गया है।



व्यवस्थापक—कल्याण

पंजीकृत संख्या जी०-आर०-१३

नया प्रकाशन

१-श्रीमद्भगवद्गीताकी विभूति और विश्वरूप दर्शन—

(गीताके १० वें और ११ वें अध्यायोंकी विस्तृत व्याख्या)

दसवें अध्यायमें वर्णित विभूति क्या है, भगवान्‌का विभूति वर्णन करनेका क्या अभिप्राय है, योग किसे कहते हैं ?-इन सब बातोंका इस पुस्तकमें विस्तारसे विवेचन हुआ है। विभूतियोंके विवेचन करनेमें भगवान्‌का तात्पर्य यही है कि किसी भी वस्तु-व्यक्ति आदिकी स्वतन्त्र महत्ता और सत्ता नहीं है। जो कुछ महत्ता और सत्ता दीखती है वह केवल भगवान्‌की ही है। कहीं भी कुछ भी विशेषता दीखते ही साधकको स्वतः भगवान्‌का चिन्तन होना चाहिये। ऐसी अमूल्य रहस्यमयी बातका प्रतिपादन इसमें हुआ है।

भगवान्‌के प्रभावका नाम योग है जिससे सब विभूतियाँ प्रकट होती हैं। विभूति और योगका तत्त्वसे जाननेका फल भगवान्‌में अपना अनन्य प्रेम होना है। उनको तत्त्वसे जानना क्या है, यह इसमें बताया गया है जिससे हम सब भगवान्‌के अनन्य प्रेमी बन सकें। ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अर्जुनको अपना विराट् रूप देखनेके लिये जिज्ञासा पैदा की। जिज्ञासा पैदा करके विराट् रूप दिखानेकी इच्छा प्रकट करायी। इच्छा प्रकट करनेपर विराट् रूप दिखाया; फिर चतुर्भुज रूप दिखाकर सौम्यरूप धारण किया। भगवान्-द्वारा अर्जुनसे बार-बार कहनेपर कि इस विश्वरूपको देख, पर अर्जुन नहीं देख सके तो भगवान्‌ने उनको दिव्य चक्षु दिये। इन सब बातोंका बहुत ही सुन्दर ढंगसे सरल भाषामें इस पुस्तकमें वर्णन हुआ है।

इस पुस्तकके लेखक हैं—गीताके मर्मज्ञ हमारे परम श्रद्धेय स्वामीजी रामसुखदासजी महाराज जो गीताके भावोंमें बहुत गहरे उतरते हैं। उन भावोंका हम सब पाठकगण रसास्वादन कर सकें, इस हेतु उन्होंने यह पुस्तक लिपिबद्ध करायी है।

यह पुस्तक सभीके लिये उपादेय है, परन्तु साधकों एवं गीतापर विचार करनेवाले सज्जनोंके लिये विशेष लाभकी चीज है। मुझे आशा है, पाठकगण इसके अध्ययन-मनन एवं चिन्तनसे लाभ उठायेंगे—इस विचारसे यह पुस्तक शीघ्र प्रकाशित की गयी है। साधारण पढ़े-लिखे लोगोंके लिये श्लोक और भावार्थ भी दिये गये हैं।

इस पुस्तकमें एक चित्र एवं पृष्ठ-संख्या २५६ है। इसका मूल्य तीन रुपये है।

निवेदक—व्यवस्थापक गीताप्रेस, गोरखपुर

२-संध्योपासन-विधि

इस पुस्तकमें संध्याके मन्त्रोंका अन्वय, पदच्छेद एवं अर्थ किया गया है। संध्याके मन्त्रोंके अर्थ समझकर संध्योपासनाका महत्त्व बहुत अधिक हो जाता है। विशेष संस्कृत न पढ़े हुए साधारण द्विज भाई संध्याके मन्त्रोंके सरलतासे अर्थ समझकर संध्योपासना कर सकें, इस हेतु यह छोटी ४४ पृष्ठकी पुस्तक प्रकाशित की गयी है। इसका मूल्य चालीस पैसे है।